* ओ३म् *

यज्ञपद्धति-मीमांसा

महामहोपाध्याय

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प० शिवदत्तदाधिमथशिष्येण

महामहोपदेशक

आचार्य विश्वश्रवाः

इत्यनेन निर्मिता

वैदिक साहित्यमण्डल वेदमन्दिर बरेली द्वारा
प्राकाश्यं नीता

२००० प्रति | सर्वेऽधिकारा ग्रन्थकर्त्रा स्वायत्तीकृताः | मूल्यम् रूप्यकत्रयम्

* ओ३म् *

यज्ञपद्धति मीमांसा

लेखक :—

महामहोपदेशक

श्री आचार्य विश्वश्रवाः वैदिक रिसर्च स्कालर

(वेदभाष्यप्रदीपकार)

मन्त्री—सार्वदेशिक उपदेशक विद्यालय समिति तथा सिद्धान्त समिति

सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा देहली

भूतपूर्व—

प्रोफ़ेसर तथा रिसर्च स्कालर

(१) श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट (पंजाब)

(२) श्री दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, (३) रिसर्च डिपार्टमेंट,

डी० ए० वी० कालेज, लाहौर

रजिस्ट्रार—

गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक—

वेदमन्दिर ६६ बाज़ार मोतीलाल बरेली (उत्तर-प्रदेश)

प्रथमवार २०००

मूल्य ३)

मुद्रक—दि हिन्द प्रेस, बरेली ।

* ओ३म् *

(ऋषि के वेदभाष्य पर चार टीकायें तीन भाषाओं में)

यदि आप ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य पढ़ना चाहते हैं तो आप हमारी टीकाओं की सहायता से पढ़ें। ये चार टीकायें तीन भाषाओं में हैं।

(अन्वितार्थ प्रदीप)

संस्कृत में—

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यास्यते मया।
नामूलं लिख्यते किंचित् नानपेक्षितमुच्यते ॥

इस कथन के अनुसार शैली रखी है जिसके द्वारा ऋषि का भाष्य परीक्षा पाठ्य ग्रन्थों में रखा जा सके।

आर्यभाषा में—इस टीका के द्वारा साधारण योग्यता वाला व्यक्ति भी सरलता से ऋषि के भाष्य को समझ सकेगा। इसी में सायणभाष्य और विलसन के अंग्रेजी ट्रान्सलेशन का हिन्दी अनुवाद भी है।

अंग्रेजी में—इस टीका में ऋषिकृत वेदभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद है।

नोट—सायण का संस्कृत भाष्य और डा० विलसन का अंग्रेजी ट्रांसलेशन भी साथ में है, तीनों भाष्यों की तुलना मीमांसा में दिखाई गई है।

(पदार्थ प्रदीप)

ऋषि के वेदभाष्य में जो दूसरे ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत हैं उनकी अपने ग्रन्थों में ऋषिकृत अर्थ में संगति तथा पदों की स्वरसिद्धि दिखाई है।

(भावार्थ प्रदीप)

इस टीका में भाष्य के विविध रहस्यों की व्याख्या है।

(सामान्य प्रदीप)

इस टीका में ऋषि दयानन्द के अनुसार मन्त्रों के ऋषि देवता छन्द और पदपाठ की मीमांसा है, ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अर्थों की संगति भी है।

विशेष—ये टीकायें कुछ लिखी गई हैं कुछ लिखी जा रही हैं देखें कौन ऋषिभक्त इसके मुद्रण में सहयोग देता है। क्योंकि बिना आर्थिक सहयोग के ये लिखी ही रखी रहेंगी।

आचार्य विश्वश्रवाः

यज्ञपद्धतिमीमांसा में

उद्धृत ग्रन्थों व ग्रन्थकारों की सूची

ऋग्वेद
यजुर्वेद
शतपथ ब्राह्मण
ऐतरेय ब्राह्मण
तैत्तिरीयारण्यक
छान्दोग्योपनिषत्
तैत्तिरीयोपनिषत्
कात्यायन श्रौतसूत्र
पारस्कर गृह्यसूत्र
गोभिल गृह्यसूत्र
आश्वलायन गृह्यसूत्र
मानव गृह्यसूत्र
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
जैमिनीय गृह्यसूत्र
भारद्वाज गृह्यसूत्र
हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र
कर्कजयरामकृत पारस्कर गृह्यभाष्य
हरदत्तमिश्रकृता आश्वलायन-गृह्यमन्त्र व्याख्या
भास्करविरचित संस्कार-पद्धति
ऋग्वेद ब्रह्मकर्म समुच्चय
याज्ञिक अनन्तदेव
देवपालकृत काठक गृह्यभाष्य

निरुक्त
कर्मप्रदीप
देवराजयज्वा
पतञ्जलि
धातुपाठ
उणादिकोश
अमरकोष
वेदान्तदर्शन
भगवद्गीता
चरक
वृद्धगर्ग
नीतिशतक
हितोपदेश
पञ्चतन्त्र
शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी
ऋग्वेद का ऋषिभाष्य
यजुर्वेद का ऋषिभाष्य
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
संस्कार-विधि
सत्यार्थ प्रकाश (पूर्व)
सत्यार्थ प्रकाश
पञ्चमहायज्ञविधि (पूर्व)
पञ्चमहायज्ञविधि
संस्कारविधि के हस्तलेख
परोपकारिणी सभा की रिपोर्ट

नोट—इनके अतिरिक्त 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' तै०ब्रा० ३।१२।९।७॥ इत्यादि कुछ प्रमाणों के पते देने इस संस्करण में रह गये हैं वे अगले संस्करण में ठीक कर दिये जावेंगे।

पद्धति-मन्त्रार्थ सूची

* ओ३म् *

यज्ञ-पद्धति-मीमांसाया विषयसूचीपत्रम्

* ओ३म् *

भूमिका

ओ३म् । हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं विजहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे ॥
ऋ० ।८ ।१०।७१ ॥

(ऋषिनिर्दिष्ट यज्ञपद्धति में घटाव बढ़ाव और परिवर्तन)

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने जो यज्ञ की पद्धति लिखी है उसको नाना प्रकार से मुद्रित करके छापा जा रहा है । किसी ने कोई मन्त्र कम कर दिया और किसी ने मन्त्र बदल दिये । यहां तक कि वैदिक यन्त्रालय अजमेर से सप्तमावृति नित्य कर्म विधि सम्वत २००४ में मुद्रित हुई जिसमें "अयन्त इध्म आत्मा" मन्त्र निकाल दिया गया । पता नहीं उस वर्ष कौन पण्डित वैदिक यन्त्रालय में आघुसा और परोपकारिणी सभा के अधिकारियों को पता नहीं हो पाया । अन्यत्र मुद्रित पद्धतियों की तो कथा ही क्या । वंगाल में एक पद्धति मुद्रित हुई उस में 'नमः शम्भवाय च०' मन्त्र आहुति का लिख दिया और उत्तर-प्रदेश के आर्य विद्वानों ने तो बहुत कुछ बढ़ाया ।

(यज्ञ की पद्धति में केवल वेदमन्त्र)

श्री पूज्यपाद श्रद्धेय स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी ने एक यह प्रकार आर्य जनता के सामने रखा है कि पद्धति में जहां जहां गृह्य मन्त्र हैं वहां वहां बदल कर वेद मन्त्र कर दिये जावें : जैसे—

क. 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा' इत्यादि तीन गृह्यमन्त्रों से आचमन न करे प्रत्युत 'अरिप्रा आपो०' अथर्व० १०।५।२४। इस मन्त्र से आचमन करे ।

ख. वाङ् म आस्येऽस्तु' इत्यादि गृह्यमन्त्रों से अङ्गस्पर्श न करे प्रत्युत 'वाङ् म आसन्०' अथर्व० १६।६०।१-२।। इन दो मन्त्रों से अङ्गस्पर्श करे ।

ग. 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः' इस प्रतीक का पता गोभिलगृह्य का न देकर ऋ० ६।६६।१६।। देना चाहिये ।।

घ. समिदाधान के लिये तो 'समिधाग्निम्०' आदि तीन मन्त्र पर्याप्त हैं ही 'अयन्त इध्म आत्मा०' गृह्यमन्त्र अनावश्यक है ।

ङ. पञ्च आज्याहुतियां 'अयन्त इध्म आत्मा०' इस गृह्य मन्त्र से न करे प्रत्युत 'एषा ते अग्ने समित्तया०' यजु० २।१४" इस मन्त्र से पांच आहुति देवे

च. 'अदितेऽनुमन्य' इत्यादि गृह्य से जल प्रोक्षण न करे प्रत्युत 'इदमापः प्रवहता०' यजु० ६।१७ ।। इस मन्त्र से जल प्रोक्षण करे

इस पक्ष के सम्बन्ध में इस समय हमें यही कहना है कि तत्तत्कार्य के जो हेतु हम ने दिखाये हैं वे इन मन्त्रों में नहीं घटते जैसे 'एषा ते अग्ने समित्तया०' इस मन्त्र से पांच आहुतियां यदि देवे तो इस मन्त्र में पांच का कारण कोई नहीं दीखता । ऐसे ही सर्वत्र हमारी व्याख्या ग्रन्थ के अन्दर पढ़कर मिलान करो ।

(उपस्थान में 'जातवेदसे०' मन्त्र है या नहीं)

संस्कारविधि की सन्ध्यापद्धति में 'जातवेदसे०' आदि पाँच मन्त्र हैं और पञ्चमहायज्ञविधि की सन्ध्यापद्धति में उपस्थान में 'उद्वयं०' आदि चार ही मन्त्र हैं । इस शंका का समाधान हमने इसी ग्रन्थ में पृ० २१४ से पृ० २१६ तक किया है कि संस्कारविधि में भी चार ही मन्त्र उपस्थान में है । 'जातवेदसे' मन्त्र पद्धति का अंश नहीं । जैसे पञ्चमहायज्ञविधि में 'यत्र लोकांश्च०' अथर्व० १६।७।१० मन्त्र प्रमाणार्थ लिखित है वैसे ही संस्कारविधि में 'जातवेदसे०' मन्त्र प्रमाणार्थ लिखागया है । इसी कारण संस्कारविधि में उपस्थान के मन्त्रों में 'जातवेदसे०' मन्त्र पर पृथक् संख्या पड़ी है शेष चारों मन्त्रों पर क्रमशः १.२,३,४ संख्या पड़ी है अन्यथा 'जातवेदसे०' मन्त्र से लेकर १,२,३,४,५ संख्या पड़ी होती मेरी इस सूझ पर मेरे मित्र पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु अत्यन्त प्रसन्न

हुए थे परन्तु मेरे मित्र के शिष्य पं० युधिष्ठर जी ने मेरी इस सूझ का खन्डन किया और लिखा कि अजमेर मे संस्कारविधि के हस्त लेखों को देखने पर यह समाधान ठीक नहीं जंचता क्योंकि अजमेर में संस्कारविधि के दो हस्तलेख हैं एक रफ़ कापी और दूसरी प्रेस कापी। रफ़ कापी में उपस्थान के मन्त्रों में संख्या नहीं पड़ी है। और प्रेस कापी में 'उदु त्यं०' पर ३ और 'उद्वयं०' पर ४ संख्या नहीं पड़ी है शेष मन्त्रों पर १,२,५ संखया पड़ी है।

पं० ब्रह्मदत्त जी ने मुझ से कहा कि युधिष्ठिर के इस खण्डन का उत्तर आप फिर सोचिये क्योंकि पं० जी यह चाहते थे कि कैसे ही इस का समाधान होवे। मैं ता० ७।७।५० को अजमेर पहुंचा और एक सप्ताह रहा। संस्कारविधि के हस्तलेखों को देखकर मुझे अपने किये समाधान पर और अधिक विश्वास होगया, जो इस प्रकार है—

संस्कारविधि के दो हस्तलेख अजमेर में हैं एक रफ़ कापी दूसरी प्रेस कापी। रफ कापी में उपस्थान के मन्त्रों पर कोई संखया नहीं पड़ी है यह ठीक है परन्तु ऋषि ने यह विचार कर कि कहीं पांचों मन्त्र पद्धति भाग में न समझ लिये जावें अतः (जातवेदसे०) मन्त्र को ब्रेकट में दिखाया है अन्य शेष चार मन्त्र पृथक् समान रूप में लिखे हैं। प्रिय युधिष्ठिर को वह ब्रेंकट न जाने क्यों नहीं दिखाई दी। आशा है युधिष्ठिर जी इस समाधान से मेरे पक्ष को मान लेंगे। अब रही प्रेस कापी की बात। वहां संखया किसी पर है और किसी पर नहीं। ऐसा क्यों है इस पर युधिष्ठिर जी ने विचार नहीं किया। प्रेस कापी में संख्यां यदि डाली गई तो सब मन्त्रों पर डालनी चाहिये थी। दो मन्त्रों में संख्या क्यों नहीं डाली गई। तीन पर ही संखया क्यों है ?

इसका वास्तविक कारण यह है कि रफ़ कापी से प्रेस कापी लिखने वाले ने ब्रेकट को न समझ कर पांचों मन्त्रों को समान रूप से नक़ल किया क्योंकि रफ कापी में संख्या किसी पर भी नहीं थी अतः धोखा हुआ है और बिना संखया के ही उसने नक़ल किया अतः

मन्त्रों को लिखते समय साथ साथ संख्या नहीं डाली गई है, जब सब मन्त्र लिखे गये तब उसे सूझा कि संखया भी डाल देनी चाहिये। जहां स्थान रिक्त था वहां संखया डाल मिली और जो मन्त्र लाइन के अन्त में समाप्त हुआ वहां संख्या डालने का स्थान ही न मिला। क्योंकि 'उदुत्यं' और उद्वयं०' मन्त्र लाइन के अन्त पर प्रेस कापी में समाप्त होते हैं अतः इन्हीं दो पर संखया नहीं डाल मिली। प्रेस कापी में इस स्थान पर या इस से आगे पीछे दोनों ओर दूर तक ऋषि के हाथ का संशोधन नहीं है। जब संस्कारविधि का प्रथम संस्करण ही छपा तभी यह बात ध्यान में आगई और प्रथम संस्करण से ही 'जातवेदसे०' मन्त्र पर पृथक् संख्या छापी गई और शेष चार मन्त्रों पर क्रमशः १,२.३,४ संख्या डाली गई जो पद्धति के अंश थे अतः 'जातवेदसे०' मन्त्र प्रमाण भाग में है पद्धति का अंश नहीं। इति सिद्धम्।

(पं० युधिष्ठिर जी की अनास्था के परिणाम)

इसी प्रकार युधिष्ठिर जी ने ऋषि के हस्त लेखों के आधार पर बहुत से विरुद्ध निर्णय प्रकाशित किये हैं। मैं हस्त लेखों के आधार पर ही उनकी मीमांसा यथावसर करूंगा। युधिष्ठिर जी विद्वान हैं और अपनी भूल को तत्क्षण स्वीकार भी कर लेंगे सिवा इसके कि उनके गुरूजी (प० ब्रह्मदत्त जी) के मान अपमान का प्रश्न न आण्ड़े। ऐसी स्थिति में तो असत्य बात पर भी अड़ने की सम्भावना है। अतः प० युधिष्ठिरजी द्वारा ऋषि के हस्त लेखों के आधार पर ऋषि के ग्रन्थों के सम्बन्ध में प्रकाशित निर्णयों को आर्य जन सावधान होकर पढ़ा करें। वे सत्य नहीं है। युधिष्ठिर जी का बाल्यावस्था से ही यह विचार रहा है कि स्वामी दयानन्द मनुष्य थे। मनुष्य भूल कर सकता है। स्वामी जी से भी भूलें हुई हैं। स्वामी जी की प्रत्येक बात को पुष्ट करना बुद्धि की दासता है। इसी कारण आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० के स्वर्णजयन्ती महोत्सव मेरठ के अवसर पर वहां उपस्थित आर्यविद्वानों को एकत्रित करके जब

मैने ता० २८ दिसम्बर १९३७ को श्री दयानन्दविद्यापीठ की स्थापना की (जिस में आरम्भ में पं० ब्रह्मदत्त जी ने पूर्ण सहयोग नहीं दिया पर कार्य चलने पर फिर प्रमुख कार्य कर्त्ता बने) उस के फ़ार्म पर प० युधिष्ठिर जी ने हस्ताक्षर नहीं किये क्योंकि विद्यापीठ का फार्म नीचे लिखा था---

"मैं ओ३म् को साक्षी करके घोषणा करता हूँ कि ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सब मन्तव्यों को अक्षरशः मानता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि उनके अनुकूल आचरण करने के लिये सर्वदा उद्यत रहूँगा और उन्हीं का प्रचार करूंगा"

इस प्रतिज्ञा पत्र को युधिष्ठिर ने मूर्खता कहा। ब्रह्मदत्त जी अपने शिष्य युधिष्ठिर के इस विचार से बहुत दुःखी रहते थे और उन्होंने कई बार मुझ से कहा कि आप किसी तरह युधिष्ठिर को समझावें। अपने मित्र के आग्रह से मैंने भी बहुत यत्न किया पर युधिष्ठिर जी के विचार नहीं बदले।

(प० युधिष्ठिर जी का उलटा प्रभाव प० ब्रह्मदत्त जी पर)

ऋषि के वेदभाष्य की कहानी

प० ब्रह्मदत्तजी ने ऋषि दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य के दश अध्याय रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किये उसमें सैंकड़ों स्थानों में ऋषि का पाठ बदल कर अपना अपना पाठ बनाकर छाप दिया। जब परोपकारिणी सभा को इस का ध्यान गया तब परोपकारिणी सभा ने चतुर्वेद भाष्यकार प० जयदेव जी वेदालंकार, मीमांसातीर्थ जी द्वारा ऋषि के वेद भाष्य और प० ब्रह्मदत्त जी के छपाये वेद भाष्य की तुलना कराकर प्रकाशित कर दी। इसके छपते ही प० ब्रह्मदत्त जी ने आर्यमित्र के ऋष्यंक ता० २० अक्टूबर १९४९ के अंक में एक रामानन्द ब्रह्मचारी का पत्र छाप कर ऋषि के वेदभाष्य के सम्बन्ध में घोषणा कर दी कि क्योंकि स्वामी ज़ी का वेदभाष्य ५१ अंक के आगे ऋषि की मृत्यु के बाद छपा है

अतः सत्यार्थप्रकाशादि के समान स्वामी जी के वेदभाष्य की स्थिति नहीं हो सकती। जिन पण्डितों पर स्वामीजी ने ५०) ५०) रुपया जुर्माना किया था उन्हीं पण्डितों की देख रेख में वेदभाष्य छपा है अतः उसमें बहुत गड़बड़ें हैं। प० ब्रह्मदत्त जी का यह घातक लेख जब मैंने आर्य मित्र में पढ़ा तब मेरा शिर घूम गया कि ब्रह्मदत्त जी और हम कई लोग दयानन्दी प्रसिद्ध थे यह हुआ क्या। एक मित्र के नाते मैंने प० ब्रह्मदत्त जी को कई पत्र लिखे जब कोई उत्तर नहीं मिला तब मैंने आर्य मित्र को तीन लेख लिखकर भेजे जो आर्य मित्र के ता० २४ नवम्बर १९४९, ५. जनवरी १९५०, और २ फरवरी १९५० के अंकों में छपे। इसी बीच में प० ब्रह्मदत्त जी का एक विस्तृत पत्र मुझे मिला जिसमें प० जी ने मुझे लिखा कि "रामानन्द का पत्र जो मैंने छाप दिया है इसका विशेष कारण है जो मिलने पर ही विदित हो सकेगा"।

मेरे दो ही लेख छप पाये थे कि सार्वदेशिक सभा की धर्मार्यसभा की बैठक में ता० १५ जनवरी १९५० को प० ब्रह्मदत्त जी मुझे देहली में मिले। मींटिग के बाद प० ब्रह्मदत्त जी और मैं उठ कर एक बाग़ में गये। मैंने प० जी से पूछा कि आप यह क्या लिख बैठे तब प० ब्रह्मदत्त जी ने सारा हाल सुनाया कि "स्वामी जी के वेदभाष्य के जो दश अध्याय रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा मैंने प्रकाशित किये उसमें बहुत स्थानों पर स्वामी जी का भाष्य बदल गया। युधिष्ठिर तो बहुत बदलना चाहता था पर मैं रोकता था फिर भी बहुत कुछ बदल गया। परोपकारिणी सभा अजमेर ने प० जयदेव जी द्वारा ऋषि के वेदभाष्य और मेरे छापे वेदभाष्य की तुलना करा कर छाप दी। उस तुलना से अपनी रक्षा के लिये मैंने रामानन्द का पत्र छाप कर घोषणा कर दी। अब आप कोई ऐसा उपाय करें जिस से मेरी प्रतिष्ठा भी रह जावे और वेदभाष्य की जो स्थिति मैं घोषित कर बैठा हूँ उस का निराकरण भी हो जावे।

प० ब्रह्मदत्त जी ने जिस समय बाग़ में मुझ से यह बात कही उस

समय प्रोफ़ेसर भीमसेन जी शास्त्री एम० ए० एम० ओ० एल (कोटा) और आचार्य राजेन्द्रनाथ जी शास्त्री दयानन्दवेदविद्यालय देहली भी मेरे साथ थे क्योंकि हम सब ही मित्र थे। मैंने पं० ब्रह्मदत्त जी से कहा कि आप की ओर से और अपनी ओर से मैं एक लेख लिखूंगा उसपर आप हस्ताक्षर कर दें वह प्रकाशित कर दिया जावेगा कि रामानन्द के पत्रादि का यह अभिप्राय नहीं प्रत्युत यह है। इस बात चीत के अनन्तर हम लोग बाग से उठकर बलिदानभवन में आये वहां प० रामदत्त जी शुक्ल एम० ए० मन्त्री आ० प्र० नि० स० यू० पी, पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री कुलपति गु० कु० वि० वृन्दावन, पं० धर्मपाल जी विद्यालंकार सम्पादक आर्यमित्र लखनऊ बैठे थे। सब ने प० ब्रह्मदत्त जी से पूछा कि कहिये प० ब्रह्मदत्त जी! वेदभाष्य की कौन कौन सी अशुद्धियें आप ने ठीक कर दीं। प० ब्रह्मदत्त जी इस प्रहास को नहीं समझे और अपने कागज़ात निकालकर बैठ गये और वेद भाष्य की अशुद्धियां और अपना समाधान बताने लगे। हम तीनों ने प० जी को बहुत रोका कि ये बात न करें पर प० जी नहीं समझे। बात समाप्त होने पर हम लोग कपूर संड्री हाउस (जहां प० ब्रह्मदत्तजी देहली में ठहरे हुये थे) को चले जब मार्ग में मैंने प० जी से कहा कि अब वह स्टेटमेंट नहीं निकल सकता जो बाग में सोचा था आप तो मौखिक बयान सबको दे बैठे तब प० ब्रह्मदत्त जी बोले कि मैं समझा नहीं कि ये लोग मुझसे क्यों पूछ रहे थे। (माननीय शुक्ल जी आदि ने वस्तुस्थिति जानने को ही पूछा था)

इसके अनन्तर कपूर संड्री हाउस देहली में लग-भग सारी रात हम दोनों जागते रहे और कुछ स्थलों पर विचार करते रहे। मैंने पं० जी को समझाया कि ऋषि का वेदभाष्य ठीक था आप ने व्यर्थ बदला। पं० ब्रह्मदत्त जी ने बार बार यह कहा कि क्या करूं युधिष्ठिर ने मेरी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। अब आगे जो कुछ छापूंगा आप को दिखाकर ही छापूंगा। पिछले दश अध्याय जो छपाये थे पाकिस्तान में लगभग जल

गये उसे भी आप ठीक करदें वैसा ही छाप दूंगा । अपने मित्र प० ब्रह्मदत्त जी की इस बात को सुन कर मुझे बहुत सन्तोष हुआ था ।

परन्तु जब प० ब्रह्मदत्त जी मुझ से पृथक् हुए और युधिष्ठिर से मिले तब युधिष्ठिर ने प० जी को यह समझा दिया कि आप यदि भूल स्वीकार कर लेंगे तो अपमान होगा अतः डटे रहिये और यही कहिये कि वेदभाष्य के बारे में जो विचार प्रकट कर चुका हूँ वे ही ठीक हैं। अतः प० ब्रह्मदत्त जी को अब हट होगई है।

(परोपकारिणी सभा के अधिवेशन)

यह विषय परोपकारिणीसभा के ५२ वें वार्षिक अधिवेशन में विचारणार्थ पेश हुआ ता० २५, २६, २७ फरवरी १६५० को इस पर विचार हुआ वहां प० ब्रह्मदत्त जी ने कहा कि रामानन्द के पत्र की प्रति-लिपि मैंने १७ मई १६४७ को परोपकारिणीसभा के मन्त्री महोदय के पास भेजी थी।

परोपकारिणीसभा के मन्त्री दीवानबहादुर बा० हरविलास जी शारदा ने सभा में कहा कि प० जी का यह कथन असत्य है। मेरे पास कोई नक़ल रामानन्द के पत्र की कभी नहीं आई, न कभी पंडित जी ने इस पत्र का ज़िक्र किया। (देखो परो० सभा के ५२ वें अधिवेशन की रिपोर्ट पृ० १२, १३)

फिर ता० ६, १० जुलाई को परोपकारिणीसभा का विशेष अधि-वेशन हुआ। विशेष रूप से परोपकारिणी सभा ने मुझे निमन्त्रित किया सभा की प्रार्थना पर मैंने जो आक्षेप प० ब्रह्मदत्त जी के छापे वेद-भाष्य पर किये और उनके जो उत्तर पं० ब्रह्मदत्त जी ने सभा में दिये वे मैं परोपकारिणी सभा की कार्यवाही से ही उद्धृत करके यहां लिखता हूँ।

(पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के सम्बन्ध में परोपकारिणी सभा के निश्चय की प्रतिलिपि)

अजेंडा का विषय ४ पेश हुआ श्री मंत्री जी परोपकारिणी सभा ने पंडित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु के छपाये हुये ऋषि के वेद भाष्य से उत्पन्न हुई भ्रांतियों को प्रस्तुत किया, इस पर सभा ने आचार्य श्री विश्वश्रवा जी से प्रार्थना की कि वे परोपकारिणी सभा द्वारा छपाये हुये ऋषि के वेद भाष्य और प० ब्रह्मदत्त जी द्वारा छपाये ऋषि के वेद भाष्य में क्या क्या अन्तर पड़ा है इसे दर्शावें सभा उस पर विचार करने के लिये आप से सहयोग चाहती है आचार्य विश्वश्रवाः जी ने नीचे लिखे दोष दिखाये—

१—संस्कृत भाग में जिस पाठको पंडित जी ने ठीक समझा उसको मूल में लिखकर (मुद्रित कर) परोपकारिणी सभा द्वारा मुद्रित पाठ फुट नोट में दिखाया।

२—कहीं कहीं अपना ठीक समझा पाठ टिप्पणी में विना दिखाये भी मुद्रित कर दिया है।

३—व्याकरणांश जो स्वामी जी का व्याकरण के अनुसार ठीक था उसको अपनी समझ के अनुसार ग़लत समझकर प० ब्रह्मदत्त जी ने दूसरा बदल दिया, अन्वय आदि में छूटे हुये पदों को स्वयं पूर्ण कर दिया।

४—कहीं २ मूल पाठ में चौखूटा ब्रेकिट देकर अपनी समझ के अनुसार उचित समझा पाठ मूल में बढ़ा भी दिया।

५—भाषा में आजकल की शैली के अनुसार बहुत कुछ परिवर्तन कर दिये हैं उनकी तो गणना ही क्या।

६—वेद भाष्य में Quotation जो दूसरे ग्रंथों के उद्धृत हैं उनको वर्तमानकाल के CriticalEdition के अनुसार छाप दिया है।

७—ऋषि की मंन्त्र भूमिका भी कहीं २ बदली है।

नोट—इनमें से बहुत के स्थल हस्त लेखों के आधार पर हैं कुछ बिना हस्त लेखों के आधार पर पंडित जी की अपनी समझ के अनुसार।

८—आर्य-मित्र के ऋष्यंक की पंडित जी की यह पंक्ति कि :—
"वेद भाष्य की वह स्थिति नहीं हो सकती ..... " हानिकर है। इस पर प० ब्रह्मदत्त जी ने निम्न प्रकार उत्तर दिये :—

१—ठीक है।
२—कोई भूल से रह गया है वह मेरी भूल है उसका मैं संशोधन करने के लिये तैयार हूँ।
३—नहीं किया हैं।
४—ठीक है।
५—कहीं कहीं संस्कृत आधार पर।
६—ठीक है।
७—हाँ बदली है।
८— +

(परोपकारिणी सभा के ता० ९,१० जुलाई १९५० की रिपोर्ट से उद्धृत)

पं० ब्रह्मदत्त जी ने केवल मेरे तीसरे आक्षेप से इनकार किया। परन्तु मीटिंग से उठकर प० ब्रह्मदत्त जी मेरे पास दयानन्दआश्रम में आये (जहाँ मैं अजमेर में ठहरा हुआ था) वहां व्याकरण के सम्बंध में तथा अन्य विषयों पर रात के १ बजे तक बात हुई, एक स्थल पर व्याकरण सम्बन्धी बहस हुई उस समय प० जी ने स्वीकार कर लिया कि इस स्थल पर ऋषि का ही ठीक था। मैंने व्यर्थ बदला। इस प्रसन्नता को कि व्याकरण सम्बंधी बात भी प० जी ने स्वीकार करली। मैंने दूसरे दिन परोपकारिणी सभा के अधिवेशन में कही। तिसपर प० जी फिर रुष्ट हो गये। ऋषि के वेदभाष्य पर प० ब्रह्मदत्त जी का घोर आक्षेप मैं सह नहीं सका। अतः मुझे दुःख है कि प० ब्रह्मदत्त जी के साथ बीस पच्चीस वर्ष की मैत्री को मैंने परित्याग कर दिया। वेद भाष्य की यह कहानी मैंने यहां इसलिये अंकित करदी कि भविष्यत् के आर्यजन प० ब्रह्मदत्त जी के मिथ्याप्रोपेगैन्डे से कुधारणा ऋषि के वेदभाष्य के बारे में न बनालें।

परन्तु मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि प० ब्रह्मदत्त जी पर यह सारा प्रभाव युधिष्ठर के कारण हुआ है। केवल वेदभाष्य ही नहीं प्रत्युत जो भी ग्रन्थ ऋषि दयानन्द का रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा इन लोगों ने

प्रकाशित किया सब में परिवर्तन किये हैं। प० ब्रह्मदत्त जी के विचार एटा के यज्ञ से बदलने प्रारम्भ होगये थे। वहां प० जी अपने कुछ साथियों के प्रभाव से तलाक़ मानने लग गये परन्तु मैं उस यज्ञ में था प० जी को कठिनता से इस विचार से रोगा। प० ब्रह्मदत्त जी ने अपने पत्र में मुझे यह भी लिखा था कि 'समिधाग्निम्०' मन्त्र में से 'स्वाहा' और 'इदं न मम' निकाल देना चाहिये। मुझे बड़ा दुःख हुआ कि यह परिवर्तन की बुद्धि पं० जी में अति होती जारही है। इस ग्रन्थ के अन्दर जो समाधान मैंने पृ० १४२, १४३ पर लिखा है उसे पाठक देखें।

प० ब्रह्मदत्तजी युधिष्ठरजी को छोड़ नहीं सकते क्योंकि युधिष्ठिरजी के बिना प० जी वेदभाष्य का काम नहीं कर सकते। पं० जी को संस्कृत भाषा पर अधिकार नहीं है, वृद्धावस्था में संस्कृत पढ़ी है। यजुर्वेद भाष्य-विवरण के प्रारम्भ में जो श्लोक प० जी ने लिखे हैं वे प० जी के शिष्य प० याज्ञवलक्य ने बनाकर देदिये थे। जो याज्ञवलक्य कम्यूनिष्ट हैं और जोधपुर में एक कम्युनिस्ट पत्र का सम्पादक है उसी का चक्षुश्रवाः नाम रखकर पं० जी ने छिपाकर मेरे विरुद्ध एक लेख आर्यमित्र के तारीख़ १६ फरवरी १९५० के अंक में छपाया था।

मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि युधिष्ठर का और प० जी का साथ छूट जावे अथवा युधिष्ठर की ही बुद्धि सुधर जावे वह होनहार योग्य विद्वान् और प्रतिभा सम्पन्न है। यदि इन लोगों के ये विचार न बदलें तो इन्हें चाहिये कि रामलाल कपूर ट्रस्ट से पृथक होजावें अन्यथा इन लोगों के कारण रामलाल कपूर ट्रस्ट का सारा प्रकाशन आर्यजनता की निगाह में संशयास्पद होगा।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

—*आचार्य विश्वश्रवाः*

ओ३म् !

॥ यज्ञपद्धति मीमांसा ॥

(अवतरणिका)

(आर्ष बुद्धि का चमत्कार)

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने एक यज्ञ की पद्धति का संकलन किया है। इस पद्धति में जिन मन्त्रों को रखा है और जिस क्रम से रखा है और जो पद्धति बनाई है इस पर साङ्गोपाङ्ग विवेचन आज तक किसी ने नहीं किया। उपलब्ध समस्त आर्षग्रन्थों में ऐसी पूर्ण पद्धति किसी ऋषि की नहीं है यह कहने का हम साहस कर सकते हैं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषिवर दयानन्द की यह एक विचित्र देन है। यह उन की आर्ष बुद्धि का एक चमत्कार है। यह पद्धति परिव्राजकाचार्य गुरुवर विरजानन्द के शिष्य दयानन्द की आर्ष उपज्ञा हो तो भी आश्चर्य नहीं। इस पद्धति से हमें यज्ञ करते अनेक वर्ष बीत गये पर यह नहीं पता चला कि—

(क) 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि बोलकर पूर्व पश्चिम उत्तर में क्यों जल चढ़ाते हैं, दक्षिण में क्यों नहीं फिर चारों ओर क्यों।

(ख) क्यों मौन आहुति देते हैं।

(ग) क्यों दो मन्त्रों से एक समिधा चढ़ाते हैं।

(घ) कोई आहुति दक्षिण में दीजाती है कोई उत्तर में यह क्यों।

(ङ) 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि आहुतियां कहां से ऋषि ने लीं।

इत्यादि सैकड़ों बाते अज्ञात ही हैं। हमने आज तक विना समझे यज्ञ किया है। छान्दोग्य उपनिषत् में लिखा है—

स य एवमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत् स्यात् ॥

(छान्दोग्य ५।२४।१॥)

अर्थात्—जो बिना समझे यज्ञ करता है वह अग्नि को हटाकर भस्म में आहुतियां डाल रहा है। अतः अत्यन्त आवश्यक है कि इन सब बातों को समझें। इन सब बातों को न समझने के ही कारण आर्य विद्वान् ऋषि की पद्धति में परिवर्तन करने वाले बने। हम उन के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि—

अज्ञानं तस्य शरणम्

हाँ यज्ञ के मन्त्रों की व्याख्या अनेक विद्वानों ने की है। यज्ञ के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बाते भी उन ग्रन्थों में हैं। ये बाते उन्हीं ग्रन्थों को पढ़कर जाननी चाहिये मैंने अपने समस्त ग्रन्थ में एक भी ऐसी बात नहीं लिखी जो किसी ग्रन्थ में पहले लिखी हो। दूसरे के ग्रन्थों से बाते संग्रह करके अपनी ग्रन्थ रचना करने की मेरी प्रवृत्ति कभी नहीं रही।

पराधिकारे न तु विस्तरोक्तिः
शास्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ॥

(चरक, चिकित्सा स्थान २६।२२३॥)

(५० वर्ष का अन्तर दूसरा ५ सहस्रवर्ष का अन्तर)

परन्तु जिस समय महर्षि की कोई वात समझ में आ जाती है उस समय लिखने की इच्छा अवश्य हो जाती है। भारत युद्ध के कुछ काल पश्चात् तक ऋषि महर्षि हमारे देश को शोभित करते रहे। वे वेदार्थ के साक्षाद् द्रष्टा थे उनमें और हम में लगभग ५ सहस्र वर्ष का अन्तर है। हमारे सौभाग्य से इतने काल के पश्चात् फिर एक ऋषि उत्पन्न हुआ पर दुःख है उस ऋषिवर दयानन्द में और हम में भी ५० वर्ष का अन्तर हुआ।

यह ५० वर्ष का अन्तर ५ सहस्रवर्ष के अन्तर के ही समान बना। इन ऋषिवर को योग्य वेदज्ञ शिष्य न मिले। वे बहुत सी बाते अपने साथ लेकर चले गये और जो कुछ भी लिखगये वह भी पूरा किसी को समझा न पाये कि मैं क्या और क्यों लिख रहा हूं। यदि महर्षि आज होते या आज के ऋषिभक्त विद्वान् तब होते तो वेद शीघ्र स्पष्ट होजाता पर हाय जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह की प्रेमिका नन्हीं जान वेश्या के षड्यन्त्र और ब्राह्मण कुल कलङ्क जगन्नाथ रसोइआ के पुरुषार्थ और सहजवैरी एक यवन डाक्टर और ऋषि की गूढ़ राजनीति से भीत एक अंग्रेज की कूटनीति से मेरे ऋषि के मर्त्यलोक में रहने के कर्म समाप्त होगये।

(श्रद्धा और पाण्डित्य)

यदि ऋषि दयानन्द अधिक जीवित रहते तो चारों वेदों का भाष्य भी पूरा होजाता और समस्त आर्ष ग्रन्थों की व्याख्या भी वे कर जाते परन्तु फिर भी यदि ऋषि में पूर्णश्रद्धा और वेदादि शास्त्रों की विद्वत्ता को धारण करके आर्य विद्वान् विचार करें तो ऋषि के वेद भाष्य तथा महर्षि कृत अन्य निबन्धों में विद्वानों को अद्भुत चमत्कार प्रतीत होंगे।

आओ हम सब मिलकर यत्न करें और महर्षि

को समझें। जो कुछ इस ग्रन्थ में आगे मैं लिखूंगा इस सब को प्रथम बार मैं ही लिख रहा हूं अतः इसमें त्रुटियों की संभावना है। विद्वानों के बताने पर मैं उसे ठीक कर लूंगा। इसको मैंने आर्यसमाज दीवानहाल देहली बम्बई कलकत्ता करांची आदि शतशः स्थानों पर विद्वानों की उपस्थिति में सुनाया है और प० रामचन्द्र जी देहलवी आदि जैसे विद्यावृद्ध वयोवृद्ध विद्वानों ने यह कहकर अनुमोदित किया है कि हम ने भी अपने जीवन में यह व्याख्या नहीं सुनी थी। तदनन्तर अनेकों आर्य-समाजों के अत्यन्त आग्रह के कारण इसे लेखबद्ध करके प्रकाशित कर रहा हूं। यदि मेरे इस पुरुषार्थ से ऋषि की एक बात भी स्पष्ट होगई तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूंगा और आर्य जगत् ने मुझे उत्साह दिया तो मैं समस्त वेद भाष्य आदि पर इसी प्रकार लिखूंगा। पर संसार की निम्नलिखित स्थिति मुझे सदा स्मरण रहती है—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहतश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥

(यज्ञ की पद्धतियों में भेद)

संस्कारविधि में नित्ययज्ञ की पूरी पद्धति लिखी है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और पञ्चमहायज्ञ-विधि में

सायं प्रातः काल की आहुतियां 'सूर्यो ज्योतिः०' आदि ही लिखकर पद्धति समाप्त करदी है। न वहां अग्न्याधान है न समिदाधान आदि ही। सत्यार्थ प्रकाश में 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि चार मन्त्र लिख दिये। यह पद्धति में भेद क्यों। नित्य यज्ञ करने वाला व्यक्ति कौन सी पद्धति से यज्ञ करे यह एक प्रश्न है।

(समाधान)

यज्ञ की पद्धतियां तीन प्रकार की होती हैं—

१–विशिष्ट यज्ञ पद्धति।

२–सामान्य यज्ञ पद्धति।

३–अनिवार्य यज्ञ पद्धति।

(विशिष्ट यज्ञ पद्धति)

विशिष्ट यज्ञ पद्धति वह है जिसके सन्बन्ध में ऋषि ने लिखा है कि (अधिक होम करने की जहां तक इच्छा हो वहां तक स्वाहा अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करें)–पञ्च महायज्ञ विधि।

चाहे चारो वेदों से यज्ञ करे, अन्य विशेष यज्ञ करें इत्यादि।

(सामान्य यज्ञ पद्धति)

सामान्य यज्ञ जो प्रत्येक स्त्री पुरुष को प्रतिदिन

करना चाहिये उसकी पद्धति संस्कार विधि के गृहाश्रम प्रकरण में है। जिसमें अग्न्याधान आदि सब कुछ है।

(अनिवार्य यज्ञ पद्धति)

किसी आपत्तिकाल में सामान्य यज्ञ न कर मिले। किसी अव्यवस्था के कारण असुविधा हो तब अनिवार्य यज्ञ पद्धति से यज्ञ अवश्य करले। इस का वर्णन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में है। पर साधारण सुविधा की स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को संस्कारविधि लिखित पद्धति से यज्ञ करना चाहिये।

इस समस्या को समझने के लिये शतपथ ब्राह्मण का एक प्रकरण देखना आवश्यक है। शतपथ में जनक-याज्ञवल्क्य नाम से एक अतिरोचक संवाद वर्णित है। एक वार राजर्षि जनक ने ऋषियों की सभा में याज्ञवल्क्य से इस प्रकार प्रश्नोत्तर किया।

तद्धैतज्जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ—

जनकः—वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या ३ इति।

अर्थात्—हे याज्ञवल्क्य! आप अग्निहोत्र को जानते हैं।

याज्ञवल्क्यः—वेद सम्राडिति।

अर्थात्—हे राजन्! मैं जानता हूं।

जनकः—किमिति ।

अर्थात्—बताइए यज्ञ क्या अथवा किस प्रकार किया जाता या यज्ञ का स्वरूप क्या है ।

याज्ञवल्क्यः—पय एवेति ।

अर्थात्—हे राजन् तुन्हारे प्रश्न का उत्तर एक शब्द में यह है कि—'दुग्ध' अर्थात् 'दुग्ध' तथा दुग्ध से उत्पन्न 'घृत' आदि यज्ञ का साधन है ।

जनकः—यत् पयो न स्यात् केन जुहुया इति ।

अर्थात्—यदि किसी के पास दुग्ध—घृत न हो तो यज्ञ कैसे करे । यज्ञ नित्य कर्म है अर्थात् प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये पर किसी निर्धन के पास दुग्ध—घृत न हो या असुविधा अव्यवस्था में दुग्ध—घृत प्राप्त न होसके तो क्या करे ।

याज्ञवल्क्यः—व्रीहियवाभ्यामिति ।

अर्थात्—चावल और जौ से ही यज्ञ करले ।

जनकः—यद् व्रीहियवौ न स्यातां केन जुहुया इति ।

अर्थात्—चावल और जौ के अभाव में किससे यज्ञ करोगे ।

याज्ञवल्क्यः—या अन्या ओषधय इति ।

अर्थात्—जो भी अन्य अन्न हो उससे यज्ञ करे ।

जनकः—यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति ।

अर्थात्—यदि अन्य भी कोई वस्तु घर में न हो तो क्या करे ।

याज्ञवल्क्यः—या आरण्या ओषधय इति ।

अर्थात्—बन में जाकर जंगली अनाज आदि लाकर यज्ञ करे ।

जनकः—यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति ।

अर्थात्—यदि वन्य ओषधि भी न मिले तो कैसे यज्ञ करोगे ।

याज्ञवल्क्यः—वानस्पत्येन ।

अर्थात्—केवल समिधाओं से यज्ञ कर ले । अर्थात् यज्ञकुंड में समिधा जलालेवे और कुछ समिधाएं पास में रखले और 'सूर्यो ज्योति'०

आदि मन्त्रों को बोलकर समिधा की ही आहुतियां देले। पर यज्ञ करना न छोड़े

जनकः—यद् वानस्पत्यं न स्यात् केन जुहुया इति।

अर्थात्—यदि लकड़ी भी न मिल सके तो कैसे यज्ञ करे।

याज्ञवल्क्यः—अद्भिरिति।

अर्थात्—जल से यज्ञ करे। अर्थात् मन्त्रों को बोलता हुआ स्वाहा बोलकर जल ही पृथ्वी पर छोड़ता जावे।

जनकः—यदापो न स्युः केन जुहुया इति।

अर्थात्—यदि जल भी न मिले तो किससे यज्ञ करे।

याज्ञवल्क्यः—(स होवाच) न वा इह तर्हि किंचनासीत्, अथैतदहूयतैव—सत्यं श्रद्धायामिति।

जनकः—वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य! धेनुशतं ददामीति होवाच।

(शतपथ ११।३।१।२-४)

अर्थात्—इन पङ्क्तियों द्वारा याज्ञवल्क्य यह दर्शाते

हैं कि—यदि कुछ भी न हो तो ध्यान से ही यज्ञ कर ले। आहुति के मन्त्रों का पाठ ही करले। इस प्रकार के श्रद्धाहोमादि का वर्णन अन्यत्र भी है देखो ऐतरेय ब्राह्मण।
(ऐ० ब्रा० २५।३।२८॥)

जिस समय जिस स्थिति में हो उस प्रकार यज्ञ करले। इस प्रकरण से वह समस्या सुतराम् सुलझ जाती है जो पञ्चमहायज्ञविधि और संस्कार विधि के नित्य यज्ञ में अन्तर प्रतीत होता है। अर्थात् जिसके पास घृत आदि न हो या घृत आदि हो भी पर अन्य अव्यवस्था हो उस समय केवल 'सूर्यो ज्योति'० आदि मन्त्रों को बोलकर नित्य यज्ञ करले जैसा पञ्चमहायज्ञ विधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में है। तथा सकल सामग्री विद्यमान होने पर और सब सामान्य व्यवस्था में आचमन अग्न्याधान आदि सब कुछ करे। जैसा संस्कार विधि के गृहस्थ प्रकारण में है।

हे गृहस्थ! तू सपरिवार नित्य प्रति यज्ञ कर इसका तेरी सन्तति पर अमिट प्रभाव होगा। जिसकी सन्तान ने जन्म पाते ही अपने माता-पिता को यज्ञ करते देखा है, आरम्भ से ही प्रतिदिन यज्ञ वेदी पर जो सन्ताने बैठी हैं। वे सन्तान ईश्वर विश्वासी मातृ-पितृ भक्त आचार निष्ठ बनेगी। उन्हें सन्मार्ग से हटाने

वाला कोई पैदा नहीं हुआ। इससे विपरीत जिनके घर में कभी यज्ञ नहीं हुआ वे सन्तानें २५ वर्ष की आयु तक गुरुकुलों में यज्ञ करने पर भी जब गुरुकुल छोड़ेगें तब यज्ञ भी वहीं छोड़ आवेंगे। आओ अब यज्ञ के स्वरूप पर विचार करें।

(यज्ञ की पद्धति में चार प्रकरण)

यज्ञ की पद्धति में चार प्रकरण हैं—

१–योग्यता सम्पत्ति –प्रार्थना आदि के मन्त्र।

२–पवित्रीकरण—आचमन तथा अङ्गस्पर्श।

३–प्रधान विषय—"ओ३म् भूर्भुवः स्वः" अग्न्याधान से लेकर "आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्" तक।

४–उपसंहार—"यां मेधां देवगणाः" से लेकर अन्त तक।

मैंने यज्ञ की पद्धति को चार भागों में बांटा है। उनके वे चारों नाम भी मैंने ही कल्पित किये हैं।

(योग्यतासम्पत्ति)

योग्यता सम्पत्ति वह प्रकरण है कि जिन प्रार्थना आदि के मन्त्रों को बोलता हुआ भक्त ईश्वर की स्तुति में मगन हो जाता है उस समय व्यक्ति यज्ञ करने की स्थिति में अपने को समझता है। यह योग्यता की

सम्पन्नता ही इस प्रकरण का उद्देश्य है। प्रार्थनादि के मन्त्रों की जो मीमांसा मैं आगे लिखूंगा उसके अनुसार इन मन्त्रों से प्रार्थना यदि की जावेगी तो एक वार यज्ञ कर्ता आपा भूल जावेगा। उसको यह भी ध्यान न रहेगा कि मैं पृथिवी पर हूं या आकाश में। ऐसा तन्मय भगवान् में हो जायगा। ऋषि ने संस्कार विधि तथा वेदभाष्य में जो इन मन्त्रों के अर्थ किये हैं उनकी व्याख्या मात्र यह मीमांसा मेरी होगी। और यह व्याख्या भी आंशिक ही है।

(पवित्रीकरण)

आचमन और अङ्गस्पर्श आदि से किसी भी नित्यकर्म के समय मनुष्य अपने को सर्वात्मना पवित्र करता है और पवित्र समझता है। यही इसका उद्देश्य है।

(प्रधान विषय)

इस प्रकरण के आरम्भ में भी "भूर्भुवः स्वः" है और अन्त में भी "भूर्भुवः स्वः" है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां से यहां तक कोई एक विषय है जिसके आदि और अन्त में 'भूर्भुवः स्वः' है। इसके आरम्भ में भी जिस प्रकार ओ३म् है वैसे ही अन्त में भी ओम्

लगा है। अर्थात् 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः.................आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' इस प्रकार संपुट में कोई विषय है। इस प्रधान विषय में दो बातें मुख्य रूप में वर्तमान हैं।

१–बाह्ययज्ञ का अन्दर के यज्ञ से मिलान करते हुए आत्मा को उन्नत करना।

२–सृष्टि विज्ञान की शिक्षा।

(उपसंहार)

प्रधान विषय में जो कुछ सीखा है। उसका नित्य पाठ करे। अर्थात् नित्य यज्ञ करे और भगवान् से सायं प्रातः प्रार्थना करे कि हे नाथ मैं इसे भूलूं नहीं। इसी आशय से ऋषि ने प्रधान विषय के अनन्तर 'यां मेधां' मन्त्र की आहुति रखी है। मेधा वह बुद्धि कहलाती है जो बुद्धि सीखी हुई बात को याद रख सके। इस आहुति के अनन्तर भक्त अपनी उस प्रारम्भ वाली मस्ती को एक बार फिर यज्ञ से उठते उठते याद करता है और उस प्रकरण का आदि का मन्त्र 'विश्वानि देव' और अन्त का मन्त्र 'अग्ने नय सुपथा' बोलकर आहुति देकर उठ बैठता है बस नित्य यज्ञ इतना ही है। 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' तीन बार बोलकर सब आहुति छोड़कर यज्ञ समाप्त कर देवे।

यह 'विश्वानि देव' से लेकर 'अग्ने नय सुपथा' तक जो भक्ति भावना की मस्ती है इसकी ही व्याख्या अब मैं करता हूं। ऋषि दयानन्द ने वेद के भिन्न भिन्न स्थानों से जो मन्त्र चुने हैं और उन आठो मन्त्रों को जिस क्रम से रखा है यह अद्भुत क्रम है। ऋषि ने कुछ विचार कर ही ये आठ मन्त्र चुने हैं और उन्हें विचार कर ही इस क्रम से रखा है। इन मन्त्रों के अर्थ भी उसी अभिप्राय से किये हैं। पर ऋषिवर को यह बताने का अवसर न मिलसका कि मैं क्या और क्यों कर रहा हूं। मैंने अपनी बुद्धि से जो ऋषि का हृदय समझने का यत्न किया है उसे ऋषि दयानन्द के भक्तों की सेवा में रखता हूं क्योंकि इसे वे ही समझ सकेंगे। परन्तु पूर्व जन्म के कुसंस्कर, अनार्ष ग्रन्थों से प्रेम, अवैदिकों से विद्या-ग्रहण आदि कारण से जिनके हृदय कलुषित हैं वे दो एक ग्रन्थों के अधूरे ज्ञाता पण्डितम्मन्य लोग ऋषि द्वारा संक्षेप में कहे इस अमृत को पान न कर सकेंगे।

॥ इति अवतरणिका ॥

(प्रथमं प्रकरणम्)

योग्यता सम्पत्ति—प्रार्थना के आठ मन्त्र

(आठो मन्त्रों के विषय)

१--विषय-स्थापनार्थं प्रथमो मन्त्रः--विश्वानि देव० इति ॥१॥

प्रथम मन्त्र के द्वारा भक्त प्रभु के आगे अपनी प्रार्थना के विषय को स्थापित करता है। विश्वानि देव० इत्यादि ॥१॥

२--अभिमान-दूरीकरणार्थं द्वितीयो मन्त्रः--हिरण्य-गर्भः० इति ॥२॥

द्वितीय मन्त्र से प्रार्थी का अभिमान दूर कराया जाता है। हिरण्यगर्भ० इत्यादि ॥२॥

३--विश्वास-दृढीकरणार्थं तृतीयो मन्त्रः--य आत्मदा० इति ॥३॥

तृतीय मन्त्र से प्रार्थना करने वाले को विश्वास दिलाया जाता है कि तेरी प्रार्थना पूर्ण होगी। य आत्मदा० इत्यादि ॥३॥

४--विवशता-द्योतनार्थं चतुर्थो मन्त्रः--यः प्राणतो०

इति ॥४॥

विवश होकर भी उसके शासन में तुझे अवश्य रहना होगा इस बात को चतुर्थ मन्त्र प्रकट करता है। यः प्राणतो० इत्यादि ॥४॥

५—कारण-प्रदर्शनार्थं पञ्चमो मन्त्रः—येन द्यौ० इति ॥५॥

जीव ब्रह्म के अधीन क्यों है इस विषय पर पञ्चम मन्त्र प्रकाश डालता है। येन द्यौ० इत्यादि ॥५॥

६—शरणागति-प्रकाशनार्थं षष्ठो मन्त्रः—प्रजापते० इति ॥६॥

छठा मन्त्र शरणागति की स्थिति को बताता है। प्रजापते० इत्यादि ॥६॥

७—सम्बन्ध-प्रकटनार्थं सप्तमो मन्त्रः—स नो बन्धु० इति ॥७॥

जीवात्मा सप्तम मन्त्र से अपना और ईश्वर का बान्धव भाव दिखाता है। स नो बन्धु० इत्यादि॥७॥

८—समर्पण-परश्चाष्टमो मन्त्रः—अग्ने नय०—इति ॥८॥

अन्तिम आठवां मन्त्र समर्पण भाव को दर्शाता

है । अग्ने नय० इत्यादि ॥८॥

यह संक्षेप से मन्त्रों के विषय कहे गये । अब इन मन्त्रों के एक एक शब्द का रहस्य आगे विस्तार से लिखा जाता है ।

(संस्कार विधिः)

'सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का पाठ और अर्थ द्वारा एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना स्थिरचित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगा के करे और सब लोग उस में ध्यान लगाकर सुने और विचारें" ।

(सामान्यप्रकरण)

विषयस्थापनार्थं प्रथमो मन्त्रः

(उत्थानिका)

प्रथम मन्त्र को बोलकर भक्त अपने प्रभु की प्रार्थना प्रारम्भ करता है । और प्रार्थना प्रारम्भ करते ही भक्त के हृदय में नास्तिकता पूर्ण संकल्प विकल्प उठने लगते हैं । उनको शान्त करने के लिये तब तक कस्मै देवाय हविषा विधेम' वाले मन्त्र प्रार्थना प्रकरण में चलते हैं । यदि ये संकल्प विकल्प क्षण भर के लिये भी शान्त हो जावे तो भक्त कुछ काल संसार को भूलकर प्रभु की

उपासना में अवश्य बैठ सकता है। जिस मन्त्र को उच्चारण करता हुआ भक्त भगवान् की आराधना प्रारम्भ करता है वह प्रथम मन्त्र यह है—

ओ३म्-विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव ॥१॥

यजु० ३०।३॥

(पदच्छेद)

विश्वानि। देव। सवितः। दुरितानि। परा। सुव। यत्। भद्रम्। तत्। नः। आ। सुव।

(पदान्वितार्थ)

देव = हे दाता
सवितः = हे उत्पन्न करने वाले
विश्वानि = सब
दुरितानि = बुराइओं को
परा + सुव = दूर कीजिये
यत् = जो
भद्रम् = कल्याण कारक (है)
तत् = वह
नः = हमको
आ + सुव = दीजिये

(परासुव—आसुव)

इस मन्त्र द्वारा प्रार्थना की गई है कि हे नाथ आप हमारी बुराइआं दूर कर दीजिये और कल्याण कारक वस्तु हमें दीजिये।

प्रश्न—इस मन्त्र में बुराइओं को दूर करने की प्रार्थना

पहले हैं और उसके पश्चात् भद्र की प्रार्थना है।

यदि इससे उलटा कर दिया जावे अर्थात् मन्त्र इस प्रकार हो कि—

ओ३म्--यद् भद्रं तन्न आसुव। विश्वानि,
देव सवितर्दुरितानि परासुव ॥

अर्थात्—जो भद्र है वह दीजिये और दुरित दूर कीजिये। तो अनुचित तो नहीं।

उत्तर—अनुचित है क्योंकि बुराइओं को दूर करने की प्रार्थना पहले उचित है और कल्याण कारक वस्तु की प्रार्थना बाद में करनी चाहिये। यह मन्त्र हमें यह शिक्षा देता है कि हे मनुष्य तू अपनी बुराइआँ पहले दूर करले तब तू भद्र की प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। जब तक मनुष्य में से बुराइआँ दूर नहीं होती तब तक उसमें अच्छाईआ नहीं आसकतीं। जैसे एक मलिन वस्त्र को प्रथम साबुन से धोना उचित है और बाद में उसमें रंग देना चाहिये। इसके विपरीत कोई मलिन वस्त्र को पहले रंग ले और फिर साबुन से धोवे यह मूर्खता पूर्ण ही कर्म होगा। अतः यह सिखाने के लिये भगवान् ने बुराइओं को दूर करने की प्रार्थना पहले कराई है और उस के पश्चात् ही भद्र की प्राप्ति की प्रार्थना मन्त्र में रखी है। अतः 'परासुव' का वाक्य पहले

चाहिये और 'आसुव' का वाक्य पश्चात् ही रखना ठीक है जैसा कि मन्त्र में है।

अथवा इस प्रकार से विचार कीजिये कि यदि किसी पात्र में मट्टी भरी है और उसमें आप चावल भरना चाहते हैं तो पहले आप उस पात्र में से मट्टी निकाल कर फेकें उसके बाद ही चावल भरे जा सकते हैं। अथवा इस प्रकार विचार करें कि यदि किसी कमरे में दुर्गन्ध भरा है तब पहले आप अग्नि आदि के द्वारा दुर्गन्ध दूर करेंगे उसके बाद ही उस कमरे को सुगन्धित करेंगे। इसी प्रकार बुराई दूर करने के बाद किसी भी व्यक्ति में अच्छाई आसकती है। अतः मन्त्र में दूरीकरण प्रथम है प्राप्ति बाद में है।

(बुराई दूर होने से ही गुणवान् नहीं बन जाता है)

कुछ लोगों का विचार है कि बुराइआँ नहीं होनी चाहिये गुण तो फिर अपने आप ही आजाते हैं। यह विचार भी ठीक नहीं है। बुराइआं दूर करने के बाद गुणों के प्राप्त करने के लिये भी यत्न करना पड़ता है। बुराई दूर होने मात्र से गुण आजावें यह आवश्यक नहीं। यदि ऐसा होता तो मन्त्र में बुराइओं के दूर

करने की ही प्रार्थना पर्याप्त होती। "भद्रम् आसुव" की प्रार्थना न होती।

(दुरितानि)

इस मन्त्र में 'दुरितानि' बहुवचन है और 'भद्रं' एक वचन है।

'दुरितानि का अर्थ है बुराइयां और 'भद्रं' का अर्थ है अच्छाई।

अर्थात्—हे परमात्मन् बुराइयां सब दूर करो और अच्छाई एक दो यह प्रार्थना का स्वरूप है।

प्रश्न—या तो दोनों जगह बहुवचन होना चाहिये या दोनों स्थानों पर एक वचन होना चाहिये। यही स्वाभाविक क्रम है अर्थात्—

दुरितानि परासुव
भद्राणि आसुव

इस प्रकार मन्त्र होना चाहिये अथवा इस प्रकार हो कि—

दुरितं परासुव
भद्रम् आसुव

'दुरित' में बहुवचन और 'भद्रं' में एकवचन क्यों। क्या छन्दः पूर्ति नहीं होती थी।

उत्तर—दुरित शब्द में बहुवचन ही चाहिये और

भद्र में एक वचन ही हो सकता है। पहले मैं दुरित में बहुवचन होने का कारण बताता हूं। देखो—तुम दो घड़े लेकर दोनों को पानी से भर दो और एक घड़े के तले में दस छिद्र करदो और दूसरे घड़े के तले में एक ही छिद्र करो। थोड़ी देर के बाद दोनों घड़ों को देखो तो विदित होगा कि जिस घड़े में दस छिद्र किये थे उसमें से भी सब जल निकल गया और जिस घड़े में एक छिद्र किया था उस में भी जल की एक बूंद नहीं। हां इतना अन्तर अवश्य हुआ कि जिस घड़े के तले में दस छिद्र किये थे उस में से जल शीघ्र निकल गया और जिसमें एक छिद्र किया था उस में से जल देर में निकल पाया। पर जल दोनों घड़ों में से निकल गया। रहा किसी में एक बूंद भी नहीं। इसी प्रकार जिस मनुष्य में बहुत बुराइआं होंगी उसका पतन शीघ्र होगा और जिसमें बुराइआं कम होंगी उसका पतन देर में होगा। पर कभी न कभी पतन होगा अवश्य। मनुष्य यदि कल्याण की कामना करे तो उसे बुराइआं सब ही छोड़ देनी चाहिये। इस अभिप्राय से 'दुरित' शब्द में बहुवचन है।

(भद्रम्)

अब प्रश्न यह है कि 'भद्रं' में एक वचन क्यों है।

इस पर भी हमें थोड़ा विचार करना है—

प्रश्न—'यानि भद्राणि तानि न आसुव' अर्थात् जो अच्छाइआं हैं वे सब हमें दीजिये इस प्रकार यदि मन्त्र में होता तो क्या हानि थी।

उत्तर—प्रथम तो सब अच्छाइआं भगवान् में ही होती हैं। मनुष्य में सब अच्छाइआं आ भी नहीं सकती। अतः यह असम्भव प्रार्थना हो जायगी। दूसरे यह भी कारण है कि जितने भी गुण मनुष्य में आ सकते हैं वे भी एक साथ नहीं आ सकते। पर यदि मनुष्य चाहे तो सब बुराइआं एक साथ छोड़ सकता है। तीसरा विशेष कारण 'भद्र' शब्द में एक बचन का यह भी है कि वस्तुतः संसार में भी भद्र एक ही है और वह भद्र है 'मोक्षधाम' अतः भद्र में एक वचन है।

(विश्वानि)

मन्त्र में दुरितानि का विशेषण विश्वानि भी दिया है। अर्थात् –'विश्वानि दुरितानि' सब बुराइओं को।

प्रश्न—'दुरितानि' बहुवचन है उस बहुवचन का अर्थ सब बुराइआं हो ही जावेगा। फिर दुरितानि का विशेषण 'विश्वानि क्यों दिया है। यह विशेषण अनावश्यक है।

उत्तर—'दुरितानि' में बहुवचन होने से 'तीन बुराइयां' यह भी अर्थ हो सकता है। क्योंकि बहुवचन तीन से आरम्भ होता है। अधिक से अधिक 'दुरितानि' का अर्थ यह हो सकता है कि 'बहुत सी बुराइयां'। बहुवचन बहुत्व का बताने वाला होता है। सम्पूर्णता का नहीं। यहाँ आवश्यक यह है कि भक्त को बताया जावे कि तू अपनी बुराइयां सब ही दूर करले। एक भी बुराई यदि शेष रह गई तो प्रभु के दर्शन न होंगे। अतः मन्त्र में -विश्वानि' पद अत्यावश्यक है।

(देव सवितः)

भगवान् के अनन्त नाम हैं उन में से इस मन्त्र में केवल दो नाम लिये गये हैं। १--देव, २--सवितः।

प्रश्न—क्या ये दोनों नाम किसी विशेष अभिप्राय से इस मन्त्र में रखे गये हैं। या साधारणतया ये नाम मन्त्र में हैं।

उत्तर—इस मन्त्र में 'देव' और 'सवितः' पद विशेष अभिप्राय से रखे गये हैं। इस रहस्य को समझने के लिये हमें प्रार्थना के प्रकार पर विचार करना होगा। जिस समय कोई व्यक्ति

किसी से मांगने जाता है तब वह मांगने वाला दो बातों पर विचार करके ही मांगता है।

१—प्रथम तो वह इस बात पर विचार करता है कि जो वस्तु मैं इस व्यक्ति से मांग रहा हूं वह वस्तु इसके पास है भी या नहीं। क्योंकि कोई मूर्ख भी हलवाई की दूकान पर जाकर कपड़ा नहीं मांगता और न कपड़े की दूकान पर जाकर दूध मांगता है।

२—द्वितीय मांगने वाला इस बात पर भी विचार कर लेता है कि यदि वह वस्तु किसी के पास है भी पर मांगने से वह व्यक्ति मुझे देगा भी या नहीं। कोई भी व्यक्ति लखपति के पास जाकर यह नहीं कहता कि आप मुझे लाख रुपया दे दीजिये। यद्यपि लाख रुपया उसके पास है पर वह देगा नहीं अतः उससे कोई नहीं मांगता। इसी प्रकार भगवान् से प्रार्थता करने वाला दोनों बातों को संमुख रखता हुआ ही प्रार्थना करता है।

१—'देव' शब्द यह दर्शाता है कि मेरे भगवान् के पास देने को सब कुछ है। यह दूसरी बात है कि वह मुझे देवे या न देवे।

२—'सवितः' पद दूसरी बात दर्शाता है कि वह मांगे से देगा या नहीं। भक्त विचार करता है कि मैं इस प्रकार प्रभु से मांगू कि वह निषेध न कर सके। ऐसा क्या प्रकार हो सकता है। वह विचारता है कि भगवान् से यह कहूंगा कि हे नाथ मैं बड़ा तपस्वी और धर्मात्मा हूं अतः तुझ से मांगता हूं। पर फिर सोचता है कि परमात्मा सब को जानता कि किस में कितना तप और धर्म है। फिर विचारता है कि परमात्मा से यह कहूंगा कि हे नाथ मैं बड़ा विद्वान् हूं अतः तुझ से मांगता हूं। पर वह सोचता है कि पाखण्ड करके संसार में मूर्खों में और कुछ काल के लिये पण्डित बन सकता हूं पर परमात्मा जानता है कि तुम कितने विद्वान् हो। अतः जो भी कोई गुण या योग्यता अपने में विचारना चाहता है भक्त को कोई भी गुण अपने में दृष्टि नहीं आता। बहुत विचार के पश्चात् एक ही गुण अपने अन्दर उसे मांगने का प्रतीत होता है और उसी बात को लेकर वह प्रभु के चरणों में उपस्थितहोता है और कहता है कि प्रभु मेरे अन्दर चाहें कोई भी गुण नहीं पर एक नाते से मैं आप से मांग सकता हूं जिसे आप भी अस्वीकार

नहीं कर सकते हैं और वह गुण यह है कि तुम मेरे पिता हो और मैं पुत्र हूं। अयोग्य से अयोग्य सन्तान को भी पिता यह नहीं कह सकता कि तू मेरा पुत्र नहीं है। अतः मैं आप से मांगने का अधिकारी हूं। क्या अयोग्य होने से कोई पुत्र नहीं रहता। पिता से मांगने का साहस करते हुए किसी को संकोच भी नहीं होता। इस अभिप्राय से 'सवितः' पद मन्त्र में है। 'सविता' का अर्थ है 'उत्पत्तिकर्ता—पिता'।

(भद्र में एक वचन का अन्य भी रहस्य)

पुत्र जब अपने पिता से मांगता है तब विशेष निर्देश नहीं करता। वह अपने पिता को अपने से योग्य समझता है कि वह पिता क्या वस्तु दे और किस समय दे और कितनी दे। वह पुत्र नहीं समझ सकता। इस पिता पुत्र भवना को समझ कर 'भद्र' शब्द में एक वचन और भी अधिक संगत प्रतीत होता है। प्रार्थना में मांगी हुई वस्तु में बहुवचन देना धृष्टता का भी सूचक है और एक वचन का प्रयोग प्रेम और समर्पण को सूचित करता है।

('देव' और 'सवितः' का दूसरा भाव)

'सविता' शब्द का अर्थ प्रेरणा करने वाला' भी होता है। प्रेरणा का अर्थ है—प्रेरित करना—धकेलना—निकालना—दूर करना। देव शब्द दानार्थक प्रसिद्ध ही है। हमारे प्रस्तुत मन्त्र में दो बाते निहित हैं। एक यह कि 'हमारी बुराइओं को दूर कीजिये' और दूसरा यह कि हमें भद्र दीजिये। आधे मन्त्र से दूर करने की प्रार्थना है और आधे मन्त्र से कुछ देने की प्रार्थना है अतः परमात्मा के दोनों प्रकार के नाम इस मन्त्र में रखे गये हैं। एक नाम इस प्रकार का रखा है जिस में देने का भाव प्रकट हो और एक नाम परमात्मा का ऐसा रखा है जिस से दूर करने का भाव प्रकट हो। देव शब्द प्रभु में देने की शक्ति को प्रकट करता है और 'सविता' शब्द परमात्मा में दूर करने की शक्ति को प्रकट करता है इस अभिप्राय से भी मन्त्र में देव और सवितः शब्द हैं। ऋषि दयानन्द ने अनेकों अभिप्रायों से पूर्ण अर्थ इन मन्त्रों के संस्कार विधि तथा वेदभाष्य में किये हैं उन अर्थों के कुछ अंश की ही व्याख्या मैं यहां कर रहा हूँ। यदि ऋषि के किये सब अर्थों की व्याख्या की जावे तो एक एक मन्त्र पर एक ग्रन्थ

रचना पड़े। अतः दिग्दर्शन मात्र मेरी इन मन्त्रों की व्याख्यायें हैं।

उपरि लिखित अनेकों भावों को हृदय में रखकर ऋषि ने मन्त्रार्थ इस प्रकार किया है—

(ऋषिभाष्यम्)

हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्ति कर्ता, समग्र ऐश्वर्य युक्त (देव) शुद्ध स्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) संपूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण दुर्व्यसन और दुःखों को (परासुव) दूर कर दीजिये (यत् जो (भद्रम्) कल्याण कारक गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ है (तत्) वह सब हमको (आसुव) प्राप्त कीजिये ॥१॥

(संस्कार विधि)

सवितः = उत्तम गुण कर्म स्वभावेषु प्रेरक—

अर्थ—उत्तम गुण कर्म स्वभावों में प्रेरणा देने वाले।

(वेदभाष्य)

—:○:०:○:—

अभिमानदूरीकरणार्थं द्वितीयो मन्त्रः

———:(०):———

(उत्थानिका)

जिस समय प्रार्थना करने वाला व्यक्ति भक्ति की भावना करके प्रार्थना प्रारम्भ करता है कि हे नाथ बुराइयां दूर करके भद्र की भिक्षा दीजिये उस समय उसके हृदय में अभिमान उठता है कि मांगना बुरा है। मैं क्यों किसी से मांगू। इस अभिमान को दूर करने के लिये सब प्रकार से महान् परमात्मा का स्वरूप भक्त के सामने रखा जाता है। जब तक व्यक्ति अपने से बड़े को नहीं देखता तब तक वह अभिमान में रहता है। ऊंट जब पहाड़ के समीप जाता है तब वह अपना बड़प्पन भूल जाता है। अतः हे भक्त तू परमात्मा के विराट् स्वरूप को देख। उसके सामने तू पर्वत के आगे राई के बराबर भी नहीं है। सारा ब्रह्माण्ड उसके अन्दर है इत्यादि रूप दिखाकर अभिमान के निराकरणार्थ महर्षि दूसरा मन्त्र प्रार्थना में प्रस्तुत करते हैं वह द्वितीय मन्त्र यह है—

ओ३म्—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

यजु० १३।४॥

(पदच्छेद)

हिरण्यगर्भः। सम्। अवर्तत। अग्रे। भूतस्य। जातः। पतिः। एकः। आसीत्। सः दाधार। पृथिवीम्। द्याम्। उत। इमाम्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

(पदान्वितार्थ)

हिरण्यगर्भः = सूर्य आदि समस्त ब्रह्माण्ड जिसके भीतर हैं
अग्रे—सृष्टि की रचना से पहले
सम् + अवर्तत = वर्तमान था
भूतस्य = उत्पन्न हुए संसार का
जातः = उत्पन्न करने वाला
एकः— अकेला
पतिः = स्वामी
आसीत् = है
सः = उस ने
पृथिवीम् = पृथिवी को
उत = और
इमाम् = इस
द्याम् – सूर्य को
दाधार = धारण किया है
कस्मै = सुख के भण्डार
देवाय = परमात्मा के लिये
हविषा = प्रेम से
विधेम = (भक्ति) करें

इस मन्त्र में अनेक प्रकार के बड़प्पन प्रभु में दिखाये गये हैं। संसार में बड़प्पन कई प्रकार का होता है—

१—स्वरूप से बड़ा—जो वस्तु जिससे आकार में बड़ी होती है वह उससे बड़ी कही जाती है जैसे बेर से अमरूद स्वरूप से बड़ा होता है। आम से कटहल आकार में बड़ा होता है। अर्थात् जो अधिक स्थान घेरे वह बड़ा और जो कम स्थान घेरे वह छोटा।

२—काल से बड़ा—काल से बड़ा होने का अभिप्राय है आयु में बड़ा होना। एक व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से कितना ही पतला या ठिगना हो पर आयु में यदि वह बड़ा है तो कम आयु वाले से वह बड़ा है। वह कम आयु वाला चाहे मोटा या लम्बा हो तो भी अधिक आयु वाले से वह काल में छोटा है हाँ स्वरूप से बड़ा हो सकता है।

३—कार्य कारण भाव से बड़ा—कारण बड़ा होता है और कार्य छोटा है चाहे वह कारण उपादान कारण हो या निमित्त कारण हो। जैसे—भूषण की अपेक्षा सुवर्ण या सुवर्णकार को विशेष महत्त्व होता है। और घड़ी की अपेक्षा घड़ी बनाने वाले

कारीगर को महत्व है। अथवा पुत्र की अपेक्षा पिता में जनक होने के कारण भी बड़प्पन है। और कालकृत भी। शारीरिक दृष्टि से बड़ा हो तो स्वरूप कृत भी।

४—अधिकार से बड़ा—सेना में यदि पिता सैनिक है और पुत्र यदि सेनापति है तो उस समय अधिकार के कारण सेना में पुत्र पिता से बड़ा है। "पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति" ऋ० १।८९।९॥ जैसा कि कहा है कि जहाँ बेटे बाप हो जाते हैं। चाहे योग्यतादि में बाप ही बड़ा हो पर अयोग्य को भी यदि सेनापति बना दिया गया है तो सैन्यसंचालन में वह सेनापति ही बड़ा है। प्रायः देखा जाता है कि कालेजों में प्रिंसिपल की अपेक्षा प्रोफ़ेसर अपने अपने विषय के ऐसे विद्वान् होते हैं कि वे प्रिंसिपल को पढ़ा सकते हैं पर अधिकार की दृष्टि से कालेज में प्रिंसिपल बड़ा होता है। उसके अनुशासन में सब को रहना होता है।

५—योग्यता से बड़ा—जैसे दुर्बल की अपेक्षा बलवान् बड़ा होता है और मूर्ख की अपेक्षा विद्वान् बड़ा होता है इत्यादि। जिस समय हम प्रभु पर दृष्टि डालते हैं

तो वह हमारी अपेक्षा सर्व प्रकार से बड़ा मालूम होता है। प्रभु में सब प्रकार के बड़प्पन विद्यमान हैं। उन सब बड़प्पनों का वर्णन इस मन्त्र में बड़ी सुन्दरता से दिखाया है। इस मन्त्र में जितने शब्द हैं वे सब विशेष अभिप्राय से रखे गये हैं जिसका विश्लेषण इस प्रकार है—

१—स्वरूप से बड़ा—हिरण्यगर्भः

२—काल से बड़ा—समवर्तताग्रे

३—कार्यकारण भाव से बड़ा—भूतस्य जातः

४—अधिकार से बड़ा—पतिरेक आसीत्

५—योग्यता से बड़ा—स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्

अतः हे भक्त—कस्मै देवाय हविषा विधेम

(हिरण्यगर्भः)

वह प्रभु स्वरूप में आकार में हम से बड़ा है। हम अपने सम्पूर्ण शरीर में भी स्वरूप से विद्यमान नहीं है। शरीर में भी विशेष स्थान पर ही हमारी सत्ता है। हमें बताया जाता है कि हम गुहा में प्रविष्ट हैं। स्वरूप भी हमारा छोटा है 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च' कह कर हमारी व्याख्या की जाती है। और

वह प्रभु 'स पर्यगात्' 'विश्वतश्चक्षुः' आदि बताया जाता है अर्थात् वह सर्वव्यापक है ये सूर्य आदि लोक सब उस प्रभु के अन्दर गर्भ के समान रहते हैं अतः वह प्रभु स्वरूप में हम से अतिमहान् है।

(समवर्तताग्रे)

काल की दृष्टि से भी वह प्रभु हम से बड़ा है क्योंकि वह हम से पहले से अर्थात् सारी सृष्टि के ही बनने से पहले विद्यमान था। शरीर धारी के रूप में हमारे आने से पहले वह प्रभु विद्यमान था अतः कालकृत भी बड़प्पन मेरे प्रभु के अन्दर है।

(भूतस्य जातः)

कार्यकारण भाव की दृष्टि से भी प्रभु हम से बड़े हैं क्योंकि जिस प्रकार परमात्मा ने सकल जगत् रचा है वैसे ही हमें भी उत्पन्न किया है वह पिता है हम पुत्र हैं। हमें इस शरीर को देने वाले भगवान् ही हैं अतः कारणकृत बड़प्पन भी प्रभु में है।

(पतिरेक आसीत्)

अधिकारकृत बड़प्पन भी परमात्मा में है क्योंकि वह सब जगत् का स्वामी है। उस की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं डोल सकता है। उसके अधिकार और

शासन में अथवा नियम में सब संसार चल रहा है। स्वामी या राजा वह है जिसके बिना कहे कुछ न हो। उस की आज्ञा और इच्छा के बिना या उस के विरुद्ध कुछ न होसके हम देखते हैं कि परमाणु भी अणुमात्र इधर से उधर प्रभु के किये बिना नहीं होसकता अतः वह सफल सच्चा स्वामी–पति–राजा सब जगत् का है अतः अधिकारकृत बड़प्पन भी उस में वर्तमान है।

(स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्)

योग्यताकृत बड़प्पन भी प्रभु में है। वह यों ही स्वामी नहीं है प्रत्युत उसने सब को धारण किया हुआ है। जिस प्रकार जीव की सत्ता से शरीर धारित रहता है। उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड प्रभु की सत्ता से धारित रहता है। हे जीवात्मन् तू इस बात पर विचार कर कि तू कठिनता से इस शरीर को धारण करता है और वह भी उस समय तक जब तक प्रभु की इच्छा हो और वह प्रभु इतने बड़े ब्रह्माण्ड को धारण करने की योग्यता रखता है। तेरी और उसकी क्या समानता। अतः सर्व प्रकार से महान् उस प्रभु को देख और अपनी तुच्छता को देख और अभिमान छोड़कर नम्र होके मुख से बार बार बोल——'कस्मै देवाय हविषा विधेम'।

(कस्मै देवाय हविषा विधेम)

"हविषा का अद्भुत अर्थ"

ऋषि दयानन्द ने (हविषा) का अर्थ किया है (योगाभ्यास और अति प्रेम से) यह विचित्र अर्थ कुछ लोगों को प्रतीत होगा। पण्डित लोग यह समझते हैं कि जब तक कोई दूसरा आचार्य वैसा अर्थ न करे तब तक ऋषि दयानन्द का किया अर्थ प्रमाणित कैसे होसकता है। आओ हम इस बात पर विचार करें कि प्रार्थना प्रकरण में 'हविः' का अर्थ प्रेम आदि कहाँ तक ठीक है।

साधारणतया पण्डितों की दृष्टि में हविः का अर्थ घृत है। घृत वाचक शब्द इस प्रकार कहे जाते हैं।

घृतम्। आज्यम्। हविः। सर्पिः।

ये सब ही शब्द घृत वाचक हैं। पर इन सब का अवयवार्थ पृथक् पृथक् है।

'घृ प्रक्षरणदीप्त्योः' पिघलना और प्रदीप्त करना अर्थ वाले घृ धातु से घृत शब्द बनता है। 'अञ्जू व्यक्ति म्रक्षण कान्ति गतिषु' चिकना करना चमकना आदि अर्थ वाले अञ्जू धातु से आज्य शब्द बनता है। 'हु दानादनयोः आदाने चेत्येके' देना, खाना, ग्रहण

करना अर्थ वाले हु धातु से हविः शब्द बनता है। और "सृप्लृ गतौ" सरकना अर्थ वाले सृप् धातु से सर्पिः शब्द बनता है। उपर्युक्त सब गुण घृत में विद्यमान हैं अतः ये शब्द घृत वाचक हैं और जो इनका असली अर्थ पिघलना चमकना आदि है उन अर्थों में भी इन शब्दों की प्रवृत्ति है।

इस दृष्टि से यदि हम विचार करे तो हविः शब्द का वास्तविक अर्थ यह है कि जो दिया जावे या ग्रहण किया जावे। अब उपासना के प्रकरण में देना और ग्रहण करना क्या है इस पर विचार करना चाहिये। उपासना प्रकरण में देने या डालने का अभिप्राय है–प्रभु की आराधना में उपस्थित होकर भेट रूप में कुछ समर्पित करना। क्या वस्तु लेकर हम प्रभु की आराधना में उपस्थित हों जब यह विचार आता है तब हमारी समझ में कोई वस्तु नहीं आती कि क्या भेट लेकर प्रभु की आराधना को जावें। यदि हम लड्डुओं का थाल लेकर नैवेद्य चढ़ाने चलें तो प्रभु कहेगा कि अरे मूर्ख, ये संसार की सब वस्तुएं मेरी ही दी हुई हैं। इन्हें मेरी भेट क्या करता है।

भक्त--महाराज! फिर तो संसार की कोई वस्तु भी मैं आप की भेट नहीं चढ़ा सकता क्योंकि धूप दीप

आदि सब ही आप का बनाया है। तो क्या मैं भेट ही न चढ़ाऊं।

भगवान्—जो तेरी अपनी वस्तु है उसे भेट में चढ़ा।

भक्त बहुत विचार करता है कि क्या कोई ऐसी भी वस्तु है जो भगवान् की नहीं है और मेरी ही है। उसके समझ में कुछ नहीं आता। अचानक उसे याद आता है कि ठीक है अब मैं समझ गया कि एक वस्तु मेरी अपनी है जो भगवान् की भी दी हुई नहीं है। आज उसी को भेट लेकर मैं भगवान् की आराधना करुंगा। आप को आश्चर्य होगा कि ऐसी क्या वस्तु है। सोचो विचार करो। भक्त के पास भी कोई अपनी वस्तु है। वह वस्तु भक्त के अपने "हृदय का प्यार" ही है और कुछ नहीं। अतः यही आज हविः बनेगा इस प्रकार उपासना प्रकरण में 'हविः' का प्रेम ही अति सुन्दर अर्थ है। ग्रहण करने योग्य अर्थ को लेकर ऋषि ने हविः का अर्थ योगाभ्यास किया है। ग्रहण करने योग्य सहारा—पतवार, इस अपार संसार में योगाभ्यास के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अतः हविः का अर्थ योगाभ्यास भी प्रभु प्राप्ति प्रकरण में संगत ही है।

इन दृष्टियों से हम कह सकते हैं कि 'हविषा' का ऐसा अर्थ यदि कोई भी अन्य आचार्य न करे तब भी

ऋषि दयानन्द का किया यह सुसंगत अर्थ प्रामाणिक ही है। इसी प्रकार आगे आने वाले मन्त्रों में 'हविषा' के भिन्न भिन्न अर्थों के सम्बन्ध में कारण निर्देश पूर्वक विचार करेंगे। ऋषि वर ने इत्यादि अनेकों विचारों को हृदय में रखकर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार लिखा है–

(ऋषिभाष्यम्)

जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य चन्द्रमादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्तत) वर्तमान था (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य

योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें ॥ २ ॥ (संस्कारविधिः)

जातः = जनकः
पदार्थ—रचने (हारा) (वेदभाष्य)

———:(०):———

विश्वास दृढीकरणार्थं तृतीयो मन्त्रः

(उत्थानिका)

भगवान् के विराट् स्वरूप को देख कर और उस भगवान् को सर्व प्रकार अपने से बड़ा समझ कर मनुष्य अभिमान से रहित होजाता है । पर उसके हृदय में एक और नास्तिकता का भाव पैदा होता है कि क्या वह प्रभु मांगे से दे देगा या अपने किये का ही प्राणी भोक्ता है । यदि भगवान् किसी को कुछ नहीं देता तो प्रार्थना ही व्यर्थ है । अतः ऋषिवर विश्वास को दृढ़ करने के लिये तृतीय मन्त्र को प्रार्थना में रखते हैं कि वह प्रभु 'आत्मदा बलदा' देता है देता है—भक्त ! तू सन्देह मत कर । जो प्रभु देने वाला है उसी ने वेद में लिखा है कि मैं देता हूं—देता हूं । विश्वास कर निराश मत हो । यहां मांगने से अवश्य मिलता है । कोई मांगने वाला यहां से

रिक्तहस्त नहीं गया। इस प्रकार आश्वासन आदि प्रकट करने के लिये तृतीय मन्त्र है जो इस प्रकार है—

ओ३म्—य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते, प्रशिषं यस्य देवाः। यस्यच्छा-याऽमृतं यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥ यजु० २५।१३॥

(पदच्छेद)

यः। आत्मदाः। बलदाः। यस्य। विश्वे। उपासते। प्रशिषम्। यस्य। देवाः। यस्य। छाया। अमृतम्। यस्य। मृत्युः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

(पदान्वितार्थ)

यः = जो
आत्मदाः = आत्म (ज्ञान) का देने वाला है
बलदाः = (तीनो प्रकार के) बल का देने वाला है
यस्य = जिसकी
विश्वे = सब
उपासते = उपासना करते हैं

यस्य = जिसके
प्रशिषम् = शासन, शिक्षा को
देवाः = विद्वान् (मानते हैं)
यस्य = जिसका
छाया = आश्रय
अमृतम् = मोक्ष है
यस्य = जिसका (आश्रय न लेना

मृत्युः = मौत है
कस्मै = सुखस्वरूप
देवाय = प्रभु के लिये

हविषा = आत्मा, अन्तःकरण से
विधेम = विशेष भक्ति किया करें।

(आत्मदाः)

आत्मदा शब्द का अर्थ है आत्मा को देने वाला। परन्तु ऋषि दयानन्द ने इस का अर्थ किया है—आत्म-ज्ञान का दाता।

प्रश्न—जीवात्मा पहिले ही से विद्यमान है। उस जीवात्मा को परमात्मा ने कहां से निकाल कर दिया और किस को दिया।

उत्तर—इस बात को समझने के लिये निम्न शैली पर विचार कीजिये। किसी व्यक्ति की जेब में चाकू पड़ा है पर वह मनुष्य भूल गया कि मेरी जेब में चाकू है। वह मनुष्य सारे घर में ढूंढता है और सब से पूछता है कि मेरा चाकू कहां गया। पर नहीं मिलता। कुछ काल के पश्चात् उसका हाथ अचानक अपनी जेब में गया और उसे चाकू मिल गया। वह मनुष्य चिल्लाकर कहता है मिल गया मिल गया। अर्थात् चाकू का पता चल गया। इसी प्रकार वास्तव में हम सब

अपने आप को भी भूले हुए हैं और नहीं जानते कि हमारा स्वरूप क्या है। प्रभु की दया से ही जीवात्मा को आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है अतः यह परमात्मा आत्मा को भी देने वाला है अर्थात् जीवात्मा को उसके स्वरूप का ज्ञान कराता है अतः ऋषि ने आत्मदा का अर्थ आत्मज्ञान का दाता किया है।

(बलदाः)

प्रश्न—बलदा शब्द का अर्थ है—बल को देने वाला। परन्तु ऋषि ने इस शब्द का अर्थ किया है कि—शरीर आत्मा और समाज के बल का देने हारा। यह विस्तृत अर्थ अपनी ओर से क्यों किया।

उत्तर—इसका कारण यह है कि तीनों बल मिलकर ही वास्तव में बल कहलाते हैं। यदि तीनों बलों में से एक भी कोई बल मिलने से शेष रह जावे तो वे बल ही नहीं होते। जैसे शारीरिक बल के होने पर भी आत्मिक बल के अभाव में मनुष्य बलवान् होता हुआ भी भीरु और कायर होता है और बलवान् भी दुर्बल से पराजित होजाता है। इसी प्रकार आत्मिक बल होने पर भी

शारीरिक बल के अभाव में मनुष्य रोगी रह कर कुछ नहीं कर सकता। यदि शारीरिक आत्मिक दोनों बल भी हों तो भी सामाजिक बल के अभाव में किसी भी देशवासी का सब कार्य संशयास्पद रहता है। यदि राजव्यवस्था यह होजावे कि कोई मनुष्य सन्ध्या अग्निहोत्र नहीं कर सकता तो शरीर और आत्मा के बल की प्राप्ति में भी भगवान् की आराधना तक विपत्तिग्रस्त हो जावे। यदि विशेष ध्यान से देखा जावे तो पता चलेगा कि किसी एक या दो बल के अभाव में अन्य बल प्राप्त भी नहीं होता। अतः तीनों मिलकर ही वास्तव में बल संज्ञा को प्राप्त होते हैं अतः ऋषिवर ने वेद के बलदा शब्द का अर्थ शरीर आत्मा और समाज का बल देने हारा किया।

(यस्य विश्व उपासते)

जब मनुष्य अपने से अधिक योग्य व्यक्ति को कुछ करते देखता है तब उसकी भी उस कार्य में प्रवृत्ति होती है। जैसा कि गीता में लिखा है कि—

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(गीता ३।२१।।)

अर्थात्–श्रेष्ठ पुरुष जो करता है साधारण जन उसका अनुकरण करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष जिस बात को ठीक समझता है अन्य भी वैसा ही मानने लगते हैं। इस प्रकार से प्रवृत्ति कराने के लिये मन्त्र में यह वाक्य आया है कि 'जिस प्रभु की सब उपासना करते हैं'। प्रभु की भक्ति कोई ऐसा नया कार्य नहीं है कि आज तू ही करने चला है। बड़े बड़े विद्वान् तुझ से अधिक योग्य व्यक्ति भी उस प्रभु की आराधना करके सफलता प्राप्त करते रहे हैं। अतः श्रेष्ठों का आचार देख कर भी तू इस प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हो।

(देवाः)

देव शब्द का अर्थ है विद्वान्, ज्ञान युक्त। अर्थात् जिस कार्य को भी कर ज्ञान पूर्वक समझ करके करना। अन्धश्रद्धा से कोई कार्य नहीं करना चाहिये। प्रभु की उपासना को भी पहले समझ ले। ऐसा न हो कि किसी अन्य वस्तु को प्रभु मान बैठो और प्रभु के स्थान पर अन्य के ही उपासक बन जाओ और पीछे से कुछ भी प्राप्त न हो। अतः इस बात का पहले ज्ञान करलो कि जिसको प्रभु मान कर उपासना कर रहे हो वह प्रभु है भी या नहीं। जैसे कोई अज्ञानी जड़ वस्तुओं को ही

परमात्मा मानकर उनकी उपासना में ही सारा जीवन बिता देते हैं। अतः किसी की भी उपासना से पूर्व उस का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

यजुर्वेद भाष्य में यह भी लिखा है कि जैंसे सूर्यादि भी प्रभु की मर्याद में चलते हैं इसी प्रकार तू भी उस प्रभु की मर्यादा में चल। इस बात का ध्यान कर कि सूर्यादि जड़ पदार्थ भी प्रभु के बनाये नियमों पर चलते है और कभी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करते हैं अतः तू भी प्रभु के बनाये नियमों और मर्यादाओं के अन्दर चल।

(प्रशिषं यस्य)

प्रश्न—यदि कोई व्यक्ति प्रभु की प्रार्थना उपासना करता रहे और उस के लिये न कोई पुरुषार्थ करे और न तदनुकूल आचरण करे तो उस भक्त की प्रार्थना सफल होगी या नहीं।

उत्तर—नहीं। क्योंकि इस मन्त्र में यह भी बताया गया है कि उस प्रभु के शासन और शिक्षा को भी मानना अत्यन्त आवश्यक है। जो केवल भक्ति करता है और प्रभु के बताये अनुसार आचरण नहीं करता या उसकी शिक्षा को नहीं मानता उसकी प्रार्थना कभी सफल नहीं होगी। प्रभु की

समस्त शिक्षायें वेद में हैं अतः कहा है कि—

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'

अर्थात्—जो वेद को नहीं जानता वह प्रभु को नहीं जानता। संसार में सैकड़ों ऐसे व्यक्ति अपने को महात्मा कहलाते डोलते हैं जो प्रभु के भक्त बनने का दावा करते हैं। मूर्ख जनता भी वेद ज्ञान से रहित इन महात्माओं को भक्त समझ कर यह मानते हैं कि यह महात्मा परमात्मा तक पहुँचे हुए हैं। पर वे यह नहीं जानते कि यह ध्रुव सत्य है कि जो वेद को नहीं जानता वह परमात्मा का स्वरूप समझ ही नहीं सकता। चाहे कितना बड़ा व्यक्ति इस संसार में बन जावे पर वेद न जानता हुआ यदि परमात्मा के सम्बन्ध में भी अपने आप को पहुंचा हुआ कोई कहता है तो समझ लो कि यह व्यक्ति इतने अंश में ढोंगी है। अतः वेदज्ञ बन कर ही परमात्मा के स्वरूप को समझा जा सकता है और वेदज्ञ बन कर ही परमात्मा की आज्ञाओं को जाना जा सकता है और उसकी आज्ञाओं के अनुसार चलकर ही प्रार्थना सफल हो सकती है।

(यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः)

प्रश्न—भगवान् को जानना अति कठिन है अतः पहले कोई सरल आरम्भिक मार्ग चाहिये। क्योंकि हमने न जाने कितने विरुद्ध कर्म किये हैं। हम इस योग्य नहीं कि पहले ही अखण्ड एक रस ब्रह्म की उपासना करने लगें। पहले किसी अन्य देवता आदि की उपासना करें फिर कुछ योग्य होकर ब्रह्म की उपासना करेंगे।

उत्तर—यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि संसार में एक उपासक जीवात्मा है और दूसरा उपास्य देव भगवान् हैं। इन दो के अतिरिक्त कोई तीसरा चेतन पदार्थ संसार में नहीं है जिस की उपासना की जावे। सूर्यादि सब जड़ पदार्थ है जड़ की उपासना करना मूर्खता है। अतः वेद मन्त्र में बताया गया है कि कोई संसार में उपास्य देव प्रभु के अतिरिक्त नहीं है—

'यस्य छाया अमृतम्—यस्य मृत्युः'

जिस प्रभु का सहारा ही एक मात्र अमृत है नहीं तो मौत ही मौत है। प्रभु के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय-मार्ग-साधन है ही नहीं।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । (यजु० ३१।८।।)

अर्थात्—ब्रह्म को जान कर ही मृत्यु से तर सकता है। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग है ही नहीं। अतः लोगों का यह विचार कि आरम्भिक कोई और सरल मार्ग होना चाहिये यह विचार अत्यन्त असंभव है। वास्तव में प्रभु से बहकाने वाला यह विचार है कि पहले किसी अन्य देवता की पूजा करो। ऐसे विचार के लोग सारे जीवन जड़ वस्तुओं की उपासना में अपना और दूसरों का जन्म खोते हैं। और प्रकट यह करते हैं कि हम प्रभु की भक्ति कर रहे हैं। अतः सब संकल्प विकल्पों को छोड़ दे और—

(कस्मै देवाय हविषा विधेम)

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ करते हुए हविः का अर्थ 'आत्मा और अन्तःकरण' किया है। हविः का अर्थ पहले बताया जा चुका है कि जिसकी आहुति चढ़ाई जावे वही हविः कहाती है। इस प्रस्तुत मन्त्र में आत्मज्ञान तथा तीनों प्रकार के बल की प्राप्ति का वर्णन प्रस्तुत है। अतः यहां इस प्रकार समझना चाहिये कि

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये आत्मा की आहुति आवश्यक है और तीनों प्रकार के बल की प्राप्ति के लिये अन्तःकरण की आहुति अपेक्षित है।

आत्मदाः = हविः = आत्मा

बलदाः = हविः = अन्तःकरण

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये आत्मा की हविः चढ़ानी चाहिये। जैसा कि कहा है।

"आत्मनाऽऽत्मानमभिसंविवेश"

(यजुः० ३२।११॥)

जब तक जीवात्मा और परमात्मा के बीच में अविद्यान्धकार वासना आदि की दीवार विद्यमान है तब तक न जीवात्मा अपने को जान सकता है और न परमात्मा को जानने की शक्ति जीवात्मा में आसकती है। और जब ये बीच के बन्धन समाप्त हो जावेंगे और जब जीवात्मा और परमात्मा समीप होंगे तब दोनों का ज्ञान क्षण भर में हो जावेगा अतः आत्मा में आत्मा की अहुति का उपाय यही है कि दोनों के बीच के बन्धन समाप्त कर लिये जावें। परमात्मा के मिलने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता प्रत्युत वासनाओं को दूर करने में परिश्रम करना पड़ता है फिर ये दोनो आत्मायें मिल तो स्वयं ही जाते हैं।

इसी प्रकार अन्तःकरण की दुर्बलता दूर बिना किये किसी प्रकार का भी बल प्राप्त नहीं हो सकता। अन्तःकरण के बलवान् होने पर शरीर आत्मा और समाज के बल प्राप्त होते हैं। इत्यादि अभिप्रायों को हृदय में रखकर ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है--

(ऋषिभाष्यम्)

(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता (बलदाः) शरीर आत्मा और समाज के बल का देने हारा (यस्य) जिसकी (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिसका (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन, न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (यस्य) जिसकी (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्षसुखदायक है (यस्य) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है हम लोग उस (कस्मै) सुख स्वरूप (देवाय) सकलज्ञान के देने हारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तः-

करण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें ॥३॥ (संस्कार विधि)

हे मनुष्याः यस्य जगदीश्वरस्य प्रशासने कृतायां
मर्यादायां सूर्यादयो लोका नियमेन वर्तन्ते ।

पदार्थ—हे मनोष्यों जिस जगदीश्वर की उत्तम शिक्षा में की हुई मर्यादा में सूर्य आदि लोक नियम के साथ वर्तमान हैं । (वेदभाष्य)

———:(०):———

विवशताद्योतनार्थं चतुर्थो मन्त्रः

(उत्थानिका)

भगवान् को महान् समझ कर भक्त के हृदय से अभिमान निकल जाता है और जब उसे आश्वासन मिलता है कि मांगे से यहां मिल भी जाता है तब प्रार्थी की प्रार्थना करने में प्रवृत्ति अवश्य होती है । पर उसके हृदय में एक और नास्तिकता का विचार उठता है कि– माना कि वह भगवान् अति महान् है और मांगे से दे भी देगा पर अपना गौरव इसी बात में है कि कुछ भी न मांगा जावे । अतः ऋषि ने प्रार्थना में इस चौथे मन्त्र को इस लिये स्थान दिया है कि भक्त को यह बता दिया

जावे कि तू विवश होकर भी भगवान् की आराधना करेगा। वह मन्त्र इस प्रकार है—

ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

यजु० २३।३॥

(पदच्छेद)

यः। प्राणतः। निमिषतः। महित्वा। एकः। इत्। राजा। जगतः। बभूव। यः। ईशे। अस्य। द्विपदः। चतुष्पदः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

(पदान्वितार्थ)

यः = जो
प्राणतः = प्राणवाले
निमिषतः = बिना प्राण वाले
जगतः = जगत् का
महित्वा = महिमा से
एकः = एक
इत् = ही
राजा = राजा
बभूव = है

यः = जो
अस्य = इस
द्विपदः = दो पैर वाले
चतुष्पदः = चार पैर वाले (प्राणि पर)
ईशे = शासन करता है
कस्मै = सुखस्वरूप
देवाय = प्रभु के लिये
हविषा = सकल उत्तम सामग्री से
विधेम = विशेष भक्ति करें।

(यः प्राणतः)

जब तक तेरे साथ इस प्राण का सम्बन्ध है तब तक तू उस प्रभु के शासन से बाहर नहीं रह सकता। तेरे साथ इस प्राण का सम्बन्ध उस प्रभु ने किया है। यह प्राण तुझे जन्म जन्मान्तर में लिये डोलता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने वाला यह प्राण जो तेरे साथ लगा हुआ है इस के सम्बन्ध तक प्रार्थना बिना किये तेरा कार्य न चल सकेगा। जब इस प्राण का सम्बन्ध विच्छेद तुझ से हो जायगा तब इस प्रकार की प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता तुझे न रहेगी। यह प्राण प्रार्थना करने की अवधि है। क्योंकि मुक्ति अवस्था में पहुँचने पर ही इस प्राण का जीव से सम्बन्ध विच्छेद होता है। प्राणों से सम्बन्ध विच्छेद का उपाय यही प्रार्थना है। जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक यह प्राण सदा जीवात्मा के साथ जुड़ा रहता है। मृत्यु के समय इसी प्राण के साथ जीवात्मा एक शरीर से निकल कर दूसरे शरीर में जाता है। अतः तू प्राणधारी है तेरे लिये प्रभु की उपासना और भक्ति अनिवार्य है।

(निमिषतः)

चेतन तो क्या जड़ जगत भी प्रभु के आश्रित स्थित

है। जड़ जगत् में भी प्रभु के संकेत के बिना कुछ नहीं हो सकता। तनिक आंख पसार कर देख कि क्या एक परमाणु भी प्रभु की व्यवस्था से पृथक् चल रहा है। जिस पदार्थ में जो गुण क्रिया निहित है उस के अधीन जड़ जगत् तक चल रहा है।

तथा च हे भक्त! तू यह भी विचार करले कि जिस जड़ जगत् के पदार्थों के लिये तू अकर्म करने पर भी उतारु हो जाता है इन सब का तो वास्तविक स्वामी परमात्मा ही है। तू उसकी वस्तुओं को उसकी भक्ति के बिना लेने का अधिकारी नहीं। और जब तू उस प्रभु का बन जाता है तब उसकी सब संपत्ति में तेरा भाग है तुझे सब कुछ मिल सकता है। वह प्रभु ही इस जड़ जगत् का भी स्वामी है जिस के पदार्थों की तू कामना करता है।

अथवा

देख! तेरे पल मारने के समय के बराबर भी कोई क्षण नहीं जो प्रभु की व्यवस्था से रहित हो। अपने जीवन के पल पल भर समय को सार्थक कर और उस प्रभु के चरणों में अपना समय बिता। पता नहीं कि अगले पलक मारने में तू जीवित भी रहेगा या नहीं। यह संसार स्थायी निवास स्थान नहीं है। इसकी अनित्यता का विचार कर और उस प्रभु को भज।

(महित्वा)

प्रश्न—जीवात्मा और जगत् पर परमेश्वर शासन करता है इसका क्या कारण है। क्या उस प्रभु का ही अंश जीव और जड़ जगत् है इस लिये शासन करता है या कोई अन्य कारण है।

उत्तर—जो अधिक योग्य होता है वह कम योग्यता वाले पर शासन करता है। और कम योग्यता वाले को अपने से अधिक योग्य के शासन की आवश्यकता होती है। वह प्रभु जीव और जड़ जगत् से महिमा में अधिक है अतः वह प्रभु अपनी महिमा के कारण जीव और जगत् का स्वामी है न कि जीव और प्रकृति को भी उसी ने बनाया है इसलिये स्वामी है। स्वामी होने में महिमा कारण है न कि अंशांशी भाव। और न ही वह प्रभु [illegible] ही शासन कर रहा है। अतः हे जीव! तुझ से अधिक महान् का शासन तेरे कल्याण के लिये तेरे ऊपर विराजमान है अतः उसी की शरण में जा।

(एक इत् राजा जगतो बभूव)

हे जीव! तू अच्छी प्रकार इस बात पर भी विचार करले कि समस्त ब्रह्माण्ड का एक ही स्वामी है। यह विचार मत करना कि इस परमात्मा को छोड़ कर किसी अन्य के आश्रय से तर जाऊँगा। या मर कर परमात्मा

से पिण्ड छूट जायगा। न तो इस जीवन में कोई दूसरा सहारा है और न मरने के बाद ही किसी दूसरे प्रभु के आश्रय की आशा है। जैसा यह जीवन वैसा ही अगला। अतः अब में और फिर में कोई अन्तर नहीं। अतः क्यों समय खोता है। प्रभु की उपासना कर। यह विचार नितान्त असत्य है कि प्रभु के बिना अन्य कोई देव तेरा कुछ भला कर सकेगा। सब देव जड़ हैं उन में से किसी में भी कुछ भी करने की शक्ति नहीं। जड़ देव किसी का कुछ नहीं कर सकते। स्वामी होना तो अलग रहा। चेतन देव केवल प्रभु है जो समस्त चराचर जगत् का स्वामी है। उसी की उपासना फलदायक है।

(य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः)

चाहे प्राणी मनुष्य योनि में रहे चाहे कीट पतंग पशु पक्षी योनि में रहे सर्वत्र उसी एक प्रभु का शासन देखने को मिलेगा। कोई योनि उसके शासन से बाहर नहीं है। अतः यह भी विचार मत करना कि इस मनुष्य योनि से तो पशु योनि अच्छी है। सहस्रों जन्मों में घूमता हुआ भी उस प्रभु के शासन से बाहर नहीं जा सकता।

अथवा

ये सारी योनियां प्रभु ने जीव के कल्याण के लिये रची हैं। इन योनियों में यात्रा करने में तू घबड़ा मत

ये योनियां तेरे कर्मों के संशोधन के लिये रची गई हैं। जिस प्रकार जल या इक्षुरस आदि की शुद्धि के लिये जो भिन्न भिन्न मार्ग उसकी यात्रा के लिये बनाये जाते हैं वे मार्ग उस जल या इक्षुरस की शुद्धि के लिये ही बनाये जाते हैं अतः भिन्न भिन्न योनियां जो जीवात्मा को दण्ड देने के लिये बनाई कही जाती है ये योनियाँ वास्तव में जीवात्मा के कर्मों की शुद्धि के लिये रची गई हैं।

अथ च

यदि द्विपदः=मनुष्य की योनि में कुछ न किया तो, चतुष्पदः=पशु आदि की योनि में जाना होगा। अतः कोई और उपाय है ही नहीं। तू अनिच्छा से भी उसी प्रभु की शरण में जावेगा। जब कि तू चारों ओर से विवश है तो समर्पण करदे और बोल—

(कस्मै देवाय हविषा विधेम)

आनन्द रूप भगवान् के लिये सकल उत्तम सामग्री जो तेरे पास हो अर्पित करदे और सब सामग्री को अब हवि बनाले और उस ब्रह्म के उद्देश्य से निरपेक्ष होकर उसका त्याग करदे।

"ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजिह्वति"

(गीता ४।२५।।)

अब मेरा कुछ नहीं। जो है उसकी हविः चढ़ा दी।

अब न कोई मेरा सामान, न कोई मेरा विचार। अब तो मैं ईश्वर प्रणिधान कर चुका। इत्यादि भावना बनाकर प्रभु के अर्पित हो जावे। ऐसे भावों को हृदय में रखकर ऋषि ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है।

(ऋषिभाष्यम्)

(यः) जो (प्राणतः) प्राणवाले (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक इत्) एक ही (राजा) राजा (बभूव) विराजमान है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है हम उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देने हारे परमात्मा की उपासना अर्थात् (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री को उसकी आज्ञापालन में समर्पित करके (विधेम) भक्ति विशेष करें ॥४॥

(*संस्कार विधि*)

निमिषतः=नेत्रादिना चेष्टां कुर्वतः ।

पदार्थ—नेत्र आदि से चेष्टा को करते हुए ।

ईशे ईष्टे ॥

पदार्थ—सर्वोपरि स्वामी है । (वेदभाष्य)

कारणप्रदर्शनार्थं पञ्चमो मन्त्रः

—:(०):—

(उत्थानिका)

इस प्रकार सब कुछ अर्पण करके भक्त वस्तुस्थिति को अनुभव करता है कि क्या कारण है कि जीवात्मा और परमात्मा में इतना अन्तर है । हम उपासक हैं वह उपास्य है । हम पुत्र हैं और वह पिता है । हम सेवक हैं वह स्वामी है इत्यादि । भक्त स्पष्ट जानने लगता है कि भगवान् महासामर्थ्यवान् है और हम उसकी अपेक्षा कुछ नहीं है यह कारण है जो हम उसकी ओर जाते हैं । इस को दिखाने के लिये ऋषि ने पञ्चम मन्त्र प्रार्थना में रखा है जो इस प्रकार है—

ओ३म् येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥ यजु० ३२।६॥

(पदच्छेद)

येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृढा। येन। स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः। यः। अन्तरिक्षे। रजसः। विमानः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम।

(पदान्वितार्थ)

येन = जिस परमात्मा ने
उग्रा = तीक्ष्ण स्वाभाव वाले
द्यौः = सूर्य आदि को
च = और
पृथिवी = भूमि को
दृढा = धारण किया है
येन = जिसने
स्वः = सांसारिक सुखको
स्तभितम् = धारण किया
येन = जिसने
नाकः = मोक्ष को (धारण किया है)
यः = जो
अन्तरिक्षे = आकाश में
रजसः = लोक लोकान्तरों का
विमानः = विशेष रूप से निर्माण करने वाला है
कस्मै = सुखस्वरूप
देवाय = प्रभु के लिये
हविषा = अपने सब सामर्थ्य से
विधेम = विशेष भक्ति करें

(येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा)

१—संसार की रचना दो प्रकार की है। कुछ प्रकाशमान तीक्ष्णस्वभाव के लोक हैं और कुछ अन्धकारमय लोक हैं। उस प्रभु ने दोनों प्रकार के लोकों को धारण किया है। और तू अपनी ओर देख कि जिस शरीर में तू रहता है उसको भी तू वास्तव में धारण नहीं कर रहा है। जिस समय इस शरीररूप वृक्ष की एक शाखा भी प्राण के छूटने से सूखने लगेगी तो तू उसे एक क्षण के लिये भी धारण नहीं कर सकता। उस प्रभु में समस्त ब्रह्माण्ड को धारण करने की शक्ति है और तुम में एक परमाणु को भी धारण करने का सामर्थ्य नहीं है। यह कारण है कि तू सेवक है और वह स्वामी है।

(येन स्वः स्तभितं येन नाकः)

२—संसार में कुछ व्यक्ति सांसारिक सुखों को भोगने की इच्छा करते हैं और कुछ व्यक्ति सकल दुःख रहित मोक्ष को ही चाहते हैं। ये दोनों प्रकार के सुख और आनन्द उसी प्रभु के आश्रित हैं। उसने सांसारिक सुखों को भी धारण किया है और परमानन्द का भी धारणकर्ता वही प्रभु है। चाहे तुझे सांसारिक सुख की इच्छा हो चाहे तुझे मोक्ष की अभिलाषा हो। दोनों की

प्राप्ति के लिये तू उस प्रभु की ही शरण में जायगा। सांसारिक सुख भी प्रभु की इच्छा के बिना नहीं मिल सकते। मोक्ष का तो कहना ही क्या है। इस से भिन्न तू अपनी ओर देख कि न सांसारिक सुख ही तेरे हाथ में हैं न मुक्ति ही। सुखों की प्राप्ति के लिये तू पराश्रित है। यह कारण है कि तू उपासक है और वह प्रभु उपास्य देव है।

(यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः)

उस प्रभु ने इस अन्तरिक्ष में सब लोक लोकान्तरों को विशेष नियम के साथ अपने सामर्थ्य से रचा है। यह रचना ऐसी है कि इस में कभी त्रुटि नहीं होती। असंख्य लोक चक्र इसमें घूम रहे हैं पर सब अपनी अपनी मर्यादा और अवधि में विचर रहे हैं। इस प्रकार विशेष व्यवस्था से सब लोक लोकान्तरों का विधाता वह जगदीश्वर है। और तू किसी का भी विधाता नहीं है।

अथ च

वह प्रभु सर्व व्यापक है और तू अपने पूरे शरीर में भी स्वरूप से विद्यमान नहीं है। इत्यादि कारण हैं कि तू इतना छोटा और वह प्रभु महासामर्थ्यवान् है जिससे तू पुत्र और वह पिता विधाता आदि कहाता है अतः हे भक्त! प्रभु के शरण में जाकर कह कि—

(कस्मै देवाय हविषा विधेम)

१—वह सब लोक लोकान्तरों को धारण करने वाला है।

२ सांसारिक सुख और मोक्ष भी उसी के अधीन हैं।

३—वही सब लोकों का रचयिता और सर्वव्यापक है।

अतः तेरी और उसकी कोई समानता नहीं है। फिर भी जितना तेरा सामर्थ्य है उतना पुरुषार्थ करले। उस तेरे पुरुषार्थ को देख कर प्रभु तेरी नौका पार करने वाले बनेंगे। चाहे तू कितना अशक्त हो पर यदि अपनी शक्ति भर यत्न कर लेगा तो प्रभु तेरे सहायक बन जावेंगे। जैसा कि कहा है कि—"न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" (ऋ० ४।३३।११) जो व्यक्ति अपना सारा परिश्रम करके थक जाता है और फिर प्रभु की ओर देखता है तब प्रभु सहायता करते हैं।

अतः अब सब संकल्प विकल्प छोड़ कर सब सामर्थ्य को हविः बना कर उपासना कर डाल फिर देख कि तू कितनी शीघ्र प्रभु के आनन्द में पहुँचता है। इस प्रकार हविः का अर्थ यहाँ सामर्थ्य करते हुए ऋषि ने उपर्युक्त अभिप्रायों को हृदय में रख कर इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

(ऋषिभाष्यम्)

(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्ण स्वभाव वाले (द्यौः) सूर्य आदि (च) और (पृथिवी) भूमि को (दृढा) धारण किया (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण किया और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक लोकान्तरों को (विमानः) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता है और भ्रमण कराता है, हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥५॥

(संस्कार विधि)

आकाश इव व्याप्तः परमेश्वरोऽस्ति
तस्यैव भक्तिं कुरुत ।

पदार्थ—आकाश के तुल्य व्यापक परमेश्वर है उसी की भक्ति करो। (वेदभाष्य)

शरणागतिप्रकाशनार्थं षष्ठो मन्त्रः

(उत्थानिका)

जब भक्त के सब संकल्प विकल्प इस प्रकार प्रार्थना करते करते दूर हो जाते हैं तब वह प्रभु को स्वामी कह कर पुकारने लगता है। पहले उपासक ने परमात्मा को सविता—पिता कह कर पुकारा था। अयोग्य सन्तान भी अपने पिता को पिता ही कहती है चाहे वह अपने पिता की आज्ञा माने या न माने। किसी भी अवस्था में पिता कहने से कोई मना नहीं करता। पर योग्य सन्तान अपने को शासित और पिता को अपने ऊपर शासक भी समझती है अतः जब भक्त परमात्मा को सर्वात्मना अनिवार्य उपास्य समझ लेता है तब उसकी शरण में आता है और अपने सब कर्म विकर्म प्रभु के सामने उपस्थित कर देता है। अपनी कामना को भी प्रकट करता है। संकोच छोड़ता है। भेदभाव भूलता है इत्यादि भाव वाला छठा मन्त्र इतने संकल्प विकल्पों की शान्ति के उपरान्त ऋषि ने रखा है जो इस प्रकार है—

ओ३म् प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥ ऋ० १०।१२१।१०॥

(पदच्छेद)

प्रजापते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परि । ता । बभूव । यत्कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ।

(पदान्वितार्थ)

प्रजापते = हे सब प्रजा के स्वामिन्
एतानि = इन (प्रत्यक्ष)
तानि = उन (अप्रत्यक्ष)
विश्वा = सब
जातानि = उत्पन्न हुओं को
त्वत् = तुझ से
अन्यः = अतिरिक्त अन्य कोई
न = नहीं
परि + बभूव = तिरस्कृत कर सकता है
यत्कामाः = जिस जिस कामना वाले हम लोग
ते = आप को
जुहुमः = पुकारें
तत् = वह
नः = हमारी
अस्तु = होजावे
वयम् = हम
रयीणाम् = ऐश्वर्यों के
पतयः = स्वामी
स्याम = होवें

(प्रजापते)

हे नाथ ! हम आपकी प्रजा हैं। पुत्र हैं। आप हमारे स्वामी हैं। मेरे सब सन्देह निवृत्त होगये अब मैं आप को स्वामी कह कर पुकारूंगा। अब मेरी पुकार सुनो। मेरे हृदय में यह विचार उठ रहा है कि मैंने इतने कुकर्म किये हैं जिन्हें मैं भी अच्छी तरह नहीं जानता। न केवल इस जन्म में प्रत्युत करोड़ों जन्मों में न जाने कितने पाप हमने किये होंगे। उन सब के फल आप की व्यवस्था के अनुसार हमें अवश्य भोगने पड़ेंगे। इतने कर्मों के अनिष्ट फलों के आक्रमण में मैं कैसे उन्नत बन सकूंगा। मुझे तो कोई अब अपने उत्थान की आशा नहीं। भक्त की इस दुर्बलता को दूर करके ढाढस देने के लिये मन्त्र का अगला वाक्य है कि--

(न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव)

हे नाथ ! तेरे अतिरिक्त कोई शक्ति नहीं जो किसी को दवा सके या तिरस्कृत कर सके। जब कोई भगवान् का आश्रय ले लेता है तब प्रभु उस भक्त के कर्मों के फलों को भी इस ढंग से भुगा देते हैं कि कर्मों के फल भी भुगत जावें और भक्त के अगले जीवनोन्नति के प्रोग्राम में कोई बाधा भी न पड़े। अतः हे भक्त! तू इस बात पर

विश्वास रख कि तूने यदि सच्चे हृदय से प्रभु का सहारा पकड़ लिया तो कोई भी तुझे नीचे न गिरा सकेगा तूने चाहे कितने कुकर्म किये हों उन के फलों से तेरी अगली उन्नति न गड़बड़ायेगी। देखो एक तोला रंग यदि एक गिलास पानी में डाला जावेगा तो अधिक रंग होगा परन्तु यदि वही एक तोला रंग एक कूप में डाल दिया जावे तो रंग का पता भी न चलेगा। वह रंग कूप में भी प्रभाव तो करेगा पर उसकी अपेक्षा जल कहीं अधिक है अतः वह प्रभाव नहीं के बराबर ही होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति पुण्य अधिक करता है या प्रभु के आनन्द सागर में अपने आप को अर्पित कर देता है उसके पिछले कर्म फल देते हुए भी उद्वेजक नहीं होते। वह भक्त उन दुष्ट फलों को आत्मशुद्धि समझता हुआ प्रसन्नता को अनुभव करता है।

(ता+एतानि)

मन्त्र में "ता"=और "एतानि" दो पद इस भाव को प्रकट करते हैं कि यह जगत् इतना बड़ा है कि इस संपूर्ण को तू जान भी नहीं सकता। अतः कुछ जगत् को तो हम "एतानि" इन अर्थात् प्रत्यक्षरूप से कह सकते हैं फिर भी बहुत कुछ जगत् ऐसा है जिसे हम "ता" अर्थात् उन अप्रत्यक्ष इस प्रकार

ही कहेंगे। इस प्रकार इस सब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् का बनानेहारा या इस सब में व्यापक सिवा उस प्रभु के अन्य कोई नहीं है।

भक्त को जब सब परिस्थितियों पर विश्वास हो जाता है तब प्रार्थना करने के लिये प्रभु की ओर भक्त झुकता है और कहता है कि—

(यत्कामास्ते जुहुमः)

जो जो हमारी कामना हो उस के लिये हम आप का सहारा पकड़ें हम किसी अन्य के द्वार पर भटकने को न जावें। अब तो हमें यह विश्वास होगया कि आप ही हमारे एक मात्र आश्रय हैं।

अतः जो भी हमारी इच्छा होगी उसकी प्राप्ति के लिये हम आप का ही द्वार खटखटायेंगे। हम जानते हैं कि समस्त संसार आप के ही द्वार का भिखारी है। फिर किसी भिखारी के घर क्यों भिक्षा मांगे जब सब को आप ही देते हैं। हम यह पूर्ण आशा रखते हैं कि—

(तत् नः अस्तु)

वह हमारी कामना अवश्य पूरी होगी। कामना की पूर्ति में हमें अब कोई सन्देह नहीं रहा। अब तो दृढ विश्वास होगया। अच्छा अब सुनो हमारी प्रार्थना जो हम चाहते हैं—

तत् शब्द 'भद्रम्' की ओर भी संकेत कर सकता है।

(वयं स्याम पतयो रयीणाम्)

हम ऐश्वर्यों के स्वामी होजावें। इसकी व्याख्या अगले मन्त्र की उत्थानिका में देखो। इत्यादि भावों को प्रकट करते हुए ऋषि ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है।

(ऋषिभाष्यम्)

हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए भूगोलादि जगत् को बनाने हारा और (परि ता) व्यापक (न) नहीं (बभूव) है (ते) उस आपके भक्ति करने हारे हम चेतनादिकों को (न) नहीं (परि, बभूव) तिरस्कृत करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं, (यत्कामाः) जिस जिस पदार्थ की कामना वाले होके हम लोग भक्ति करें (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (तत्) वह कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे जिससे (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥३॥ *(संस्कार विधि)*

सम्बन्धप्रकटनार्थं सप्तमो मन्त्रः

(उत्थानिका)

प्रभु की शरण में आकर भक्त ने स्तुति के अनन्तर प्रार्थना आरम्भ की कि मैं ऐश्वर्यों का स्वामी बनूं। क्योंकि अब भक्त के सन्देह दूर हो चुके। कर्मफलों के विपाक से भी उसको भय जाता रहा अब तो वह सब संसार को भूल कर प्रभु को ही देखता है और स्वयं भी ऐश्वर्यों का स्वामी बनना चाहता है क्योंकि भगवान् भी ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। अतः भक्त भी ऐश्वर्यों का स्वामी बनना चाहता है। भक्त अपने हृदय में समझता है कि जब परमात्मा के साथ मेरा पिता-पुत्र भाई-भाई का सम्बन्ध है तो उसके समान ही मुझे भी बनना चाहिये अन्यथा मेरा परमात्मा के साथ बन्धुबान्धव भाव ही क्या। अतः प्रभु के समान बनने में हेतु भक्त यह दिखाता है कि हमारा तुम्हारा बन्धु सम्बन्ध है अतः दोनों को एक सा होना चाहिये। यदि तुम ऐश्वर्यों के स्वामी हो तो मुझे भी बनाओ। इत्यादि भावों को प्रकट करने के लिये ऋषि ने सातवां मन्त्र प्रार्थना में रखा है जो इस प्रकार है—

ओ३म् । स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥७॥ (यजु० ३२।१०॥)

(पदच्छेद)

सः । नः । बन्धुः । जनिता । सः । विधाता । धामानि । वेद । भुवनानि । विश्वा । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । तृतीये । धामन् । अध्यैरयन्त ।

(पदान्वितार्थ)

सः = वह परमात्मा
नः = हमारा
बन्धुः = बन्धु (है)
जनिता = पिता (है)
सः = वह परमात्मा
विधाता = कर्मफलों का देने वाला (है)
विश्वा = सब
भुवनानि = लोकों को
धामानि = (और उन लोकों के) नाम, स्थान और उत्पत्ति प्रकार को
वेद = जानता है
यत्र = जिस
तृतीये = तीसरे
धामन् = धाम (मोक्ष) में
अमृतम् = मोक्षसुख को
आनशानाः = प्राप्त होते हुए
देवाः = ज्ञानवान् लोग
अध्यैरयन्त = स्वच्छा पूर्वक विचरण करते हैं अधिकार के साथ ।

(स नो बन्धुर्जनिता)

हे भगवन् ! आप हमारे भ्राता और पिता हैं। मैंने ऐश्वर्यों के स्वामी बनने की इच्छा इस लिये प्रकट की है क्योंकि यह अच्छा नहीं प्रतीत होता कि एक भाई ऐश्वर्यों का स्वामी हो और एक ऐश्वर्यों का स्वामी न हो। वे पिता पुत्र ही क्या हैं जो पिता तो ऐश्वर्यों का स्वामी हो और पुत्र ऐश्वर्य रहित हो। अतः हे नाथ ! इस भ्रातृभाव और पिता पुत्रसम्बन्ध को निभाने के लिये मुझे ऐश्वर्यों का स्वामी बनाइये।

(स विधाता)

मैं यह जानता हूं कि आप कर्मफल के विधाता है। आप किसी को क्षमा नहीं करते। हर एक प्राणी को आपकी व्यवस्था के अनुसार कर्मफल भोगना ही पड़ेगा। पर मैं यह भी तो जानता हूँ कि वह कर्मफल का विधाता मेरा भाई और पिता है। कोई शत्रु नहीं है। अतः वह द्वेष के कारण कर्मफल मुझे नहीं देगा। न किसी बदला लेने को वह दण्ड देगा। बड़ा भाई या पिता यदि दण्ड भी देगा तो कल्याण की भावना से देगा। अतः मैं निर्भय हूं और आप के समक्ष एक बात कहता हूं कि—

(धामानि वेद भुवनानि विश्वा)

आप सब लोक लोकान्तरों को तथा उन लोकों के नाम स्थान और जन्म को आप अच्छी प्रकार जानते हैं। क्योंकि किसी वस्तु को तीन प्रकार से पूर्णतया जाना जाता है। अर्थात् उस वस्तु का नाम विदित हो और उस वस्तु का स्थान विदित हो और उसकी रचना का स्वरूप विदित हो। आप सब लोकों को तीनों प्रकार से जानते हैं कि सब लोकों के नाम क्या है तथा वे लोक लोकान्तर कहां है और उनका निर्माण किस प्रकार हुआ है। निर्माण प्रकार जानने से उसका स्वरूपज्ञान और उससे हानि लाभ आदि सब का ज्ञान हो जाता है। अतः हे परमात्मन्! आप इस सम्पूर्ण विश्व को सर्वात्मना जानते हैं।

परमात्मा---मैं सब लोक लोकान्तरों को सर्वात्मना जानता हूं पर इस कहने का अभिप्राय क्या है। क्या तू किसी लोक को जाना चाहता है।

भक्त---हां!

परमात्मा---अच्छा बताओ कहां जाना चाहते हो?

भक्त---सुनो

(यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त)

मैं वहां जाना चाहता हूँ जहाँ तीसरे धाम में अमृत को भोगते हुए ज्ञानी स्वेच्छा पूर्वक विचरते हैं।

(तृतीये धामन्)

१—दुःखमय सृष्टि—नरक–प्रकृति।

२—सुखमय सृष्टि—स्वर्ग–जीव।

३—आनन्दमय सृष्टि—मोक्ष–ब्रह्म।

पशु आदि योनि में या मनुष्य योनि में ही जब प्राणी को दुःख प्राप्त होता है वह दुःखमय जीवन है।

जब मनुष्य को अतिशय सुख प्राप्त होता है वह सुखमय जीवन है। सुखातिशय के कारण उसे स्वर्ग भी कहते हैं।

इस सांसारिक सुख दुःख से रहित जीवात्मा की एक तीसरी स्थिति भी है जब वह प्रभु के आनन्द में विचरण करता है यही जीव का तीसरा धाम है।

अथवा

एक जीवात्मा और दूसरी प्रकृति इन दोनों से भिन्न तीसरा परमात्मा है जिस में मुक्त जीव विचरते है अतः जीव प्रकृति से विलक्षण यह प्रभु रूप तृतीय धाम है।

(यत्र देवाः)

'विद्वांसो हि देवाः' विद्वानों का ही नाम देव है। इस तीसरे धाम में वे ही लोग जासकते हैं जो ज्ञानवान् हैं। क्योंकि—

"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"

विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। इस तीसरे धाम में अज्ञानियों का वास नहीं है।

(अमृतम् आनशानाः)

जहाँ जन्म मरण के बन्धन से मनुष्य छूट जाता है उस मोक्ष सुख को प्राप्त करूं। उस तृतीय धाम प्रभु में विचरूं। अतः हे प्रभु मैं वहाँ जाना चाहता हूं जो मेरा अन्तिम लक्ष्य तृतीय धाम है। इस भावना को लिये भक्त प्रभु के संमुख उपास्थित हो रहा है। 'अध्यैरयन्त' की व्याख्या अगले मन्त्र की उत्थानिका में देखो। इस प्रकार के भावों को प्रकट करने के लिये ऋषि ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

(ऋषिभाष्यम्)

हे मनुष्यो! (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत् का उत्पा-

दक (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करने हारा (विश्वा) संपूर्ण (भुवनानि) लोक-मात्र और (धामानि) नाम स्थान जन्मों को (वेद) जानता है और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्षस्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त हो के (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छा पूर्वक विचरते हैं वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा, और न्यायाधीश है अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति करें ॥७॥

(*संस्कार विधि*)

विधाता = सर्वेषां पदार्थानां कर्मफलानां च विधानकर्ता ।

पदार्थ—सब पदार्थों और कर्म फलों का विधान करने वाला है ।

तृतीये = जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे ।

पदार्थ—जीव और प्रकृति से विलक्षण ।

(*वेदभाष्य*)

समर्पणपरश्चाष्टमो मन्त्रः

——:(०):——

(उत्थानिका)

जब भक्त ने यह इच्छा प्रकट की कि मैं उस तृतीय धाम में जाना चाहता हूँ जिस धाम में मृत्यु का भय नहीं और प्रभु के आनन्द में रहना होता है। स्वेच्छा से जहां विचरण होता है और वह स्वेच्छा से विचरण भी अधिकार पूर्वक विचरण होता है कर्म फल से प्रेरित होकर नहीं। क्योंकि ज्ञानवान् का कर्म बन्धन टूट जाता है। भक्त की इस प्रकार की अभिलाषा को देख कर भगवान् कहते हैं कि यदि तू उस तृतीय धाम में जाना चाहता है तो जा। भक्त का कहना है कि हे नाथ! मैंने उसका मार्ग नहीं देखा। यदि मैं मार्ग जानता होता तो अब तक चला जाता। आपका आश्रय मैंने इसी लिये पकड़ा है कि उसका मार्ग मुझे दिखाइए। इत्यादि प्रकरण को प्रारम्भ करने के लिये ऋषि ने अष्टम मन्त्र रखा है जो इस प्रकार है—

I want to go but I don't know how

ओ३म्। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयो-ध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूमिष्ठां ते नम-उक्तिं विधेम ॥८॥ यजु० ४०।१६॥

(पदच्छेद)

अग्ने । नय । सुपथा । राये । अस्मान् । विश्वानि । देव । वयुनानि । विद्वान् । युयोधि । अस्मत् । जुहुराणम् । एनः । भूयिष्ठाम् । ते । नमउक्तिम् । विधेम ।

(पदान्वितार्थ)

अग्ने = प्रकाशस्वरूप भगवन्
राये = ऐश्वर्य के लिये
अस्मान् = हम को
सुपथा = शोभन मार्ग से
नय = चलाइये
देव = हे परमात्मन् (आप)
विश्वानि = सब
वयुनानि = कर्मों को
विद्वान् = जानने वाले हैं
अस्मत् = हम से
जुहुराणम् = कुटिलता युक्त
एनः = पाप को
युयोधि = दूर कीजिये
ते = आप की
भूयिष्ठाम् = अत्यन्त
नमउक्तिम् = स्तुति को
विधेम = हम करें

(अग्ने)

हे नाथ ! जो स्वयं अन्धकार में है वह दूसरे को मार्ग कैसे बता सकता है। जो स्वयं अज्ञान में है वह दूसरे का अज्ञान कैसे दूर कर सकता। मैंने तुम्हें प्रकाश और ज्ञान का भण्डार समझ कर पकड़ा है। हे प्रकाश और ज्ञान के भण्डार! आप मेरे पथ प्रदर्शक बनें।

(नय सुपथा)

उस तृतीय धाम तक पहुँचने का क्या मार्ग है मैं नहीं जानता। आप तो जानते ही हैं। वह मार्ग मुझे दिखाइए। उसी मार्ग पर मुझे चलाइए। पर प्रभो! कठिन मार्ग से मत चलाना। आप दुर्बलों पर दया करने वाले हैं। मुझे शोभनमार्ग से चलाना। सरलमार्ग से चलाना। सुन्दर लक्ष्य तक पहुँचाने वाले मार्ग से चलाना। यदि दुर्गम विषम कठिन मार्ग से चलावेंगे तो मैं न चल सकूंगा। नाथ ! मेरी परीक्षा लेने को कठिन मार्ग में मत डालना। हम पुत्र हैं आप पिता हैं। दया करके सुन्दर सरल शोभन मार्ग से नाथ ! मुझे चलाना मेरी यही प्रार्थना है।

(राये अस्मान्)

हे प्रभो ! मैं ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये आप से प्रार्थना

करता हूं अतः यह अवश्य पूरी होनी चाहिये। यदि कोई मनुष्य दुष्ट सिद्धि के लिये आप से प्रार्थना करे वह उस सिद्धि की प्राप्ति का अधिकारी नहीं होसकता। क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि भगवान् से बुरी इच्छाओं की प्रार्थना नहीं करनी चाहिये पर शुभ प्रार्थना तो आप के दरबार में सब की सुनी ही जाती है। और देखो मैं अब बहुत से ऐश्वर्यों को भी नहीं चाहता अब तो मैं एक ही ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये आप से प्रार्थना कर रहा हूं। वह मेरे ऐश्वर्य हे नाथ! आप ही हैं मुझे आप रूप ही मोक्ष धाम एक मात्र चाहिये। जिस को आरम्भ में मैंने आप से 'भद्रं' शब्द से कहा था। अब इस एक ही भद्र=ऐश्वर्य की प्राप्ति करा दीजिये क्योंकि मैं जानता हूं कि—

प्रश्न—ज्ञाते तु कस्मिन् विदितं जगत् स्यात
उत्तर—सर्वात्मके ब्रह्मणि पूर्णरुपे

(शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी)

प्रश्न—किसके जान लेने पर सब जाना हुआ होजाता है।
उत्तर—परमब्रह्म परमात्मा के जान लेने पर सब जाना हुआ हो जाता है।

अतः मैं जानता हूं कि फिर मुझे कुछ भी प्राप्तव्य ज्ञातव्य न रहेगा।

एक बात की और प्रार्थना है कि मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि उस तृतीय धाम—भद्र—ऐश्वर्य में मैं

अकेला ही न जाऊँ। भगवन्! संसार के सब प्राणी दुःखों से छूट कर आनन्द को प्राप्त हों। सब के कल्याण की भावना मेरे अन्दर उत्पन्न हो गई है। अतः प्रभो! हम सब को ही अच्छे मार्ग से चला कर उस अन्तिम लक्ष्य तक आप पहुँचादें यह इस भक्त की विनीत प्रार्थना है।

यदि आप यह कहें कि जब कोई मनुष्य किसी से उच्चज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उस गुरु के आगे अपनी पूर्व की योग्यता और स्थिति बतानी पड़ती है अतः मैं भी अपनी सब त्रुटियां और कर्म विकर्म आदि आप के संमुख वर्णन करूं तब आप मेरा मार्ग निर्धारण कर सकेंगे। इस विषय में नाथ! मेरा नम्र निवेदन है कि प्रथम तो मैं अपनी सब त्रुटियां जानता भी नहीं जो कहूं। इसके अतिरिक्त कहा भी उसके आगे जाता है जो न जानता हो। मैं तो यह भली प्रकार जानता हूं कि—

(विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्)

आप सब कर्मों को जानते हैं! आप से कुछ भी किसी का छिपा नहीं है। आप घट घट वासी और अन्तर्यामी है। आप से क्या कहा जावे। जो न जानता हो उससे कहना भी ठीक है। आप अच्छी प्रकार जानते हैं कि गत मोक्ष के बाद से अब तक कितने मेरे जन्म हुए और उनमें क्या क्या अच्छे बुरे कर्म मैंने किये।

उनमें से कितने कर्म भुगत गये और कितने शेष हैं। कितनी वासनाएं दूर होगई हैं और कितनी शेष हैं। आप के मिलने में क्या क्या रुकावटें अभी शेष हैं। यह सब कुछ आप ही जानते हैं। जीवात्मा अपने सब कर्मों को नहीं जान सकता हम तो केवल इतना जानते हैं कि क्योंकि आप से दूर हैं अतः पाप शेष अवश्य हैं अन्यथा आप से दूर ही क्यों होते। अतः आप से प्रार्थना करते हैं कि--

(युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः)

हम से कुटिलता पाप दूर कर दीजिये। यही मुझे आप से नहीं मिलने देता। जिस समय यह पाप दूर होगया उस समय मैं स्वयं ही आप की गोद में आकर विश्राम पा जाऊँ अतः प्रभो! कुटिलता पाप दूर करो जिससे मैं आप से मिल सकूं।

परमात्मा—हे भक्त! तू सब कार्य मेरे अधीन करता है। तेरे कर्मों को भी मैं जानता हूँ। मार्ग भी मैं बताऊँ। इत्यादि मेरे कर्तव्यों को बहुत बखानता है। तू भी कुछ अपना कर्तव्य समझता है?

भक्त—हे नाथ! मैं अच्छी प्रकार अपना काम भी जानता हूं जो यह है कि—

(भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम)

आप की स्तुति प्रार्थना उपासना मैं करता रहूंगा। मैं केवल इतना ही अपना कर्तव्य समझता हूं। आप की स्तुति करने से वे गुण मेरे अन्दर आवेंगे। गुणों की समानता से मैं अधिक निकट आप के होता जाऊँगा। प्रार्थना करने से मेरा अभिमान दूर होगा और आप से सहायता मुझे मिलेगी और उपासना योग से क्रमशः पाप से छूटता छूटता आप के सायुज्य को प्राप्त हो जाऊँगा। इत्यादि भावों को हृदय में रखकर महर्षि प्रवर भगवान् दयानन्द ने इस मन्त्र को इस प्रकार व्याख्यात किया है—

(ऋषिभाष्यम्)

हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् को प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर आप जिससे (विद्वान्) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान

और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइए और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पाप रूप कर्म को (युयोधि) दूर की जये इस कारण हम लोग (ते) आप की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुति रूप (नमउक्तिम्) नम्रता पूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ॥८॥

(*संस्कार विधिः*)

प्रारम्भ में 'विश्वानि देव०' मन्त्र से जो प्रकरण चलाया था वही 'अग्ने नय०' मन्त्र में उपसंहार में उतारा। कितना सुन्दर आरम्भ और उपसंहार है।

इस प्रकार भक्त गान करता हुआ भक्ति से ओत-प्रोत हो जाता है तब वह उस योग्यता से संपन्न होता है जिस स्थिति में मनुष्य आचमनादि क्रियाओं को निम्न लिखित मन्त्रों को पढ़ता हुआ करता है जो द्वितीय प्रकरण के प्रारम्भिक वाक्य हैं।

ओम्—अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।

ओम्—अमृतापिधानमसि स्वाहा ।

ओम्—सत्यं यशः श्री र्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ।

इत्यादि द्वितीय प्रकरण में
देखो !

इति
श्री १०८ महर्षि दयानन्दसरस्वतीसंकलितयाम्,
आचार्य विश्वश्रवसा व्याख्यातायाम्,
यज्ञपद्धतौ प्रथमं प्रकरणं
समाप्तम् ।

(अथ द्वितीयं प्रकरणम्)

पवित्रीकरण-आचमन तथा अङ्गस्पर्श

(आचमन)

——:(०):——

आचमन के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण के आरम्भ में ही इस प्रकार लेख है—

तद् यदप उपस्पृशति—अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः, मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानीति। पवित्रं वा आपः, पवित्रपूतो व्रतमुपयानीति तस्माद् वा अप उपस्पृशति। (शतपथ १।१।१।)

अर्थात्—मनुष्य असत्य भाषण भी करता है अतः वह संस्कार ग्रहण के अयोग्य है। आचमन में यह शक्ति है कि मनुष्य को संस्कार ग्रहण के योग्य बना देता है। दूसरा कारण यह है कि जल पवित्रहै आचमन करने से पवित्र होकर अगला कर्म करना ठीक है।

१—असत्यभाषण आदि दुष्कर्मों के करने से मनुष्य के अन्दर एक ऐसा भाव पैदा होजाता है जिसके कारण अर्थ पूर्वक भी मन्त्रों के विचार का प्रभाव नहीं पड़ता। आचमन उस भाव को कुछ काल के लिये नष्ट कर देता है जिससे मन्त्र का प्रभाव मनुष्य के आत्मा पर पड़ जाता है। अतः सन्ध्या में भी उस कलुषित भाव को निरन्तर दूर करते रहने के लिये बीच बीच में आचमन लिखा है।

२—जल पवित्र करने वाला है। जब मनुष्य आचमन करता है तब जल अन्दर जाकर कफ़ आदि की निवृति करता हुआ ज्ञानतन्तुओं में शान्ति स्थापित करके पवित्र और शान्त करता है।

(संस्कार विधि)

उपस्थित कर्म के बिना दूसरा कर्म वा दूसरी बात कोई भी न करें और अपने २ जल पात्र से सब जने जो कि यज्ञ करने को बैठे हों वे इन मन्त्रों से तीन २ आचमन करें अर्थात् एक २ से एक २ बार आचमन करें। वे मन्त्र ये हैं—

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥१॥ इससे एक

(तैत्तिरीयारण्यक प्र० १० । अनु० ३२)

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥२॥ इससे दूसरा

(तैत्तिरीयारण्यक प्र० १० । अनु० ३५)

ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥३॥

(मानवगृह्य० प्रथम पुरुष ६ वां खण्ड)

इससे तीसरा आचमन करके ।

(सामान्यप्रकरणम्)

अर्थात्—(अमृत) हे अमृत प्रभो ! (उपस्तरणम्) नीचे का बिछौना (असि) तू है (स्वाहा) यह मैं ठीक ठीक समझ रहा हूं । (अमृत) हे अमृत प्रभो ! (अपिधानम्) ऊपर का ओढ़ना (असि) तू है (स्वाहा) यह मैं ठीक ठीक समझ रहा हूं। (सत्यम्) सत्य (यशः) कीर्ति (श्री) लक्ष्मी (मयि) मेरे अन्दर (श्रीः) आश्रित होकर (श्रयताम्) रहें (स्वाहा) मैं सत्य कहता हूं कि इन को प्राप्त करने का मैं यत्न करूँगा ।

भक्त भगवान् से कहता है कि हे नाथ ! अमृत रूप आप मेरे नीचे और ऊपर हैं। अमृत भाव के अन्दर रहता हुआ मैं मरण धर्म से बच जाऊंगा । अमरता मुझे अवश्य प्राप्त होगी और उससे पूर्व इस लोक यात्रा में—

सत्य—यश—श्री

इन तीनों में से किसी एक को प्रधान रूप से अन्य दो को गौण रूप से प्राप्त करूं जिससे इस लोक और उस लोक दोनों में मैं पवित्र बन सकूं।

क. "सत्यं वै देवाः"। अर्थात् विद्वान् ब्राह्मण का सत्य ही धन है सत्य ही जीवन है। अन्य यश और सम्पत्ति उसके लिये गौण हैं।

ख. क्षत्रिय का कीर्ति ही जीवन है अन्य सत्य और लक्ष्मी उसके लिये गौण हैं।

ग. वैश्य के लिये लक्ष्मी ही जीवन है यश और सत्य उसके लिये गौण हैं।

घ. सत्य से यश प्राप्त होता है, यश से सम्पत्ति प्राप्त होती है अतः यह क्रम भी ठीक हैं।

(ध्यान)

आचमन करता हुआ ऐसा ध्यान करे कि जिस प्रकार दो कम्बलों के बीच में रखा हुआ बर्फ़ पिघलता नहीं इसी प्रकार प्रभु के अन्दर स्थित मुझको मौत नहीं सता सकती। अमृत के अन्दर रहता हुआ मैं अमृत हो जाऊंगा। जिस प्रकार व्यक्ति जल में तैरता है इसी प्रकार आचमन करता हुआ अपने अमृत प्रभु की गंगा में बहता हुआ अपने को अनुभव करे। और ध्यान से

देखे कि मेरे ऊपर अमृत का ओढ़ना है और मेरे नीचे अमृत का ही बिछौना है। इस प्रकार ध्यान करता हुआ कुछ क्षण ठहरे।

(जल के गुण)

जल स्पर्श करने में भी शान्ति देता है और देखने में भी जल शान्ति देता है। चक्षु रोग वाला बहते शीतल जल को यदि देखे तब भी नेत्रों को शान्ति मिलती है। अतः मनुष्य अपने आप को ऐसा बनावे कि जो व्यक्ति उसके संसर्ग में आवे वह शान्त होजावे। यहाँ तक कि जो उस व्यक्ति का दर्शन करे वह भी शान्त हो जावे। बड़े बड़े उद्दण्ड व्यक्ति तथा अन्य प्राणी भी महात्माओं के सामने शान्त हो जाते हैं। उनकी आकृति में ऐसा गुण होता है। क्योंकि जैसा मनुष्य अन्दर से होता है वैसा उसका मुख होजाता है। इसका अनुभव हम दिन रात करते हैं। मूर्ख और विद्वान् के मुख की आकृति में अन्तर होता है। आचारवान् और आचार हीन की भी आकृति में अन्तर होता है क्योंकि—

"अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते"

अतः मनुष्य अपनी आकृति को जल के गुणों के समान गुणवाली बनावे।

(आचमन का प्रकार)

कुछ लोग चम्मच से आचमन करते हैं अर्थात् चम्मच से जल मुख में डालते हैं। या इस प्रकार आचमन करते हैं जैसे कि हाथ से जल पिया जाता है। ये दोनों प्रकार आचमन करने के ठीक नहीं है। आचमन सदा ब्राह्मतीर्थ से करे अर्थात् हाथ की हथेली में गढ़ा बना कर उसमें ठीक परिमाण में जल भर कर जिधर हाथ की ओर गढ़ा सा है उधर से आचमन करे। ऐसा करने से तुम अनुभव करोगे कि किसी ठीक स्थान पर जल जाकर गिरा है ऐसे ही आचमन का वह फल है जो कि शतपथ ब्राह्मण में लिखा है। अन्यथा प्रकार से आचमन करने में अन्य प्रकार का अनुभव होगा। करके देख लो। हथेली में जल बहुत अधिक भी नहीं भरना चाहिये जितना जल कण्ठ के नीचे उतर कर निश्चित स्थान पर जा कर पड़े उतना ही जल हथेली में लेवे। और आचमन करता हुआ उपर्युक्त प्रकार से ध्यान करे। अन्यथा स्वाहा शब्द का बोलना संगत नहीं होगा।

(स्वाहा)

१—स्वाहा[1] शब्द के अनेक अर्थ हैं। उन में एक अर्थ

१—'स्वाहा' इत्येतत्—'सु आह' इति वा। 'स्वा वाग् आह' इति वा। 'स्वं प्राह' इति वा। 'स्वाहुतं हविर्जुहोति' इति वा।

(निरु० ८।२०)

अर्थात्—प्रिय, सत्य और ध्यान पूर्वक कथन को स्वाहा कहते हैं। तथा च आहुति प्रदान भी स्वाहा शब्द का अर्थ है।

यह भी है कि जो कुछ मैं कह रहा हूं–ठीक कह रहा हूँ–और समझ कर कह रहा हूँ। मनुष्य वाणी से कुछ भी कह रहा हो और उस का ध्यान कहीं अन्यत्र हो तो उस कहने का कुछ भी प्रभाव अपने ऊपर नहीं पड़ता है। अतः ऐसी अन्यमनस्क स्थिति में मनुष्य स्वाहा कहने का अधिकारी नहीं है।

(तीन आचमन)

'आधिभौतिक–आधिदैविक–आध्यात्मिक'

इन तीनों प्रकार की शान्ति के लिये तीन बार आचमन किया जाता है।

(अङ्गस्पर्श)

इस सम्बन्ध में पारस्कर गृह्यसूत्र में इस प्रकार लेख है—

आचम्य प्राणान् त्संमृशति—

वाङ् म आस्ये। नसोः प्राणः। अक्ष्णोः चक्षुः।

कर्णयोः श्रोत्रम्। बाह्वोर्बलम्। ऊर्वोरोजः।

अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहेति।

(पारस्कर गृ० १।३।२५॥)

इस पर कर्क आदि भाष्यकारों ने यह लिखा है कि—

साकाङ्क्षत्वात् 'अस्तु' इत्यध्याहारः ।
'मे' इत्यस्य च सर्वत्रानुषङ्गः ।
'अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूः' इत्यत्र
'सन्तु' इत्यध्याहारः ।

(कर्क, जयराम०)

अर्थात्—हर एक के साथ 'अस्तु' और 'मे' लगाना चाहिये और अन्तिम वाक्य में 'तनूस्तन्वा' के साथ 'सन्तु' लगाया जायगा। अतः स्वामी दयानन्द जी ने अङ्ग-स्पर्श वाक्य इस प्रकार लिखे हैं—

(संस्कार विधि)

तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करे ।

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु । *(इस मन्त्र से मुख)*

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु। *(इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्र)*

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु । *(इस मन्त्र से दोनों आँखें)*

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु । *(इस मन्त्र से दोनों कान)*

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु । (इस मन्त्र से दोनों बाहु)

ओम् ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु । (इस मन्त्र से दोनों जङ्घा और—

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ।

(पारस्करगृ० का० १, कण्डिका ३, सू० २५।।)

इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जल स्पर्श करके मार्जन करना ।

(सामान्य प्रकरणम्)

अर्थात्—(मे) मेरे (आस्ये) मुख में (वाक्) वाणी (अस्तु) होवे ।

(मे) मेरे (नसोः) नासिका के छिद्रों में (प्राणः) प्राण (अस्तु) होवे ।

(मे) मेरे (अक्ष्णोः) दोनो आंखों के गोलकों में (चक्षुः) देखने वाला नेत्र इन्द्रिय (अस्तु) होवे ।

(मे) मेरे (कर्णयोः) दोनों कानों के गोलकों में (श्रोत्रम्) श्रवणेन्द्रिय (अस्तु) होवे ।

(मे) मेरे (बाह्वोः) भुजाओं में (बलम्) शक्ति (अस्तु) होवे ।

(मे) मेरे (ऊर्वोः) दोनों जङ्घाओं में (ओजः) सत्व (अस्तु) होवे ।

(मे) मेरा (तनूः) शरीर और (मे) मेरे (तन्वः) शरीर के (अङ्गानि) अन्य भी सब अङ्ग (अरिष्टानि) रोग रहित (सह) साथ ही (सन्तु) होवें।

(ध्यान)

१—मुख को सजल हस्त से स्पर्श करता हुआ अनुभव करे कि मेरे अन्दर वक्तृत्व शक्ति स्थिर होरही है। यदि कोई दोष वाणी में उच्चारण में हो तो ध्यान से उसको दूर करने का यत्न करे इससे लाभ होगा। यहां एक बात समझ लेना चाहिये कि अङ्गस्पर्श के अन्तिम मन्त्र में सामान्य रूप से कहा है कि 'अरिष्टानि मेऽङ्गानि' अर्थात् जहां सब अंगों में उसके गुणों की स्थिरता की प्रार्थना है वहाँ रोग रहित क्षीणतारहित होने का भी ध्यान करना है।

२—नासिका को स्पर्श करता हुआ अनुभव करे मेरी प्राणशक्ति प्रबल हो रही है। और श्वास का कोई रोग हो तो उसके दूर करने का ध्यान करे।

३—आंखों को स्पर्श करते हुए अनुभव कीजिये

कि आप की दृष्टि की शक्ति बढ़ रही है। और यदि कोई रोग नेत्रों में हो तो उस के दूर करने का ध्यान करे कि यह रोग दूर होरहा है।

४—कानों पर हाथ रखता हुआ अनुभव करे कि मेरी श्रवण शक्ति बढ़ रही है। और यदि कोई रोग कान में हो, श्रवणशक्ति कम हो तो उसको दूर करने का ध्यान करे,

५—भुजाओं को स्पर्श करता हुआ अनुभव करे कि मेरी भुजाओं में बल का संचार हो रहा है। यदि कोई रोग हो, दुर्बलता अनुभव होती हो तो उसको दूर करने का ध्यान भी साथ साथ करे।

६—जंघाओं को स्पर्श करता हुआ अनुभव करे कि मेरी जंघाओं में स्थिर रहने और चलने की शक्ति आरही है। यदि दुर्बलता अशक्तता अनुभव होरही हो तो उसके दूर करने का ध्यान करे।

७—अन्य भी सब देह के भागों को तथा पूर्वोक्तों को रोग रहित रहने की प्रार्थना प्रभु से करते हुए सब अङ्गों पर जल से मार्जन करे अर्थात् ऊपर उछाल कर

छिड़के और यह अनुभव करे कि मेरे सब अङ्ग स्थिर और रोगरहित होगये। और प्रभु से यह प्रार्थना भी इस मन्त्र से करे कि जब तक मेरा शरीर रहे तब तक सब अङ्ग ठीक रहें। अन्यथा जीवन ही क्या।

(जल में विद्युत्)

अग्नि काष्ठादि से जलती है और जल से बुझती है, शान्त होती है। बिजली में इस से उलटा गुण है। बिजली काठ से शान्त होती है और जल से प्रदीप्त होती है। वेद में लिखा है कि 'घृतस्य धाराः समिधो नसन्तः' जल की धाराएं विद्युत् की समिधाएं बन जाती है। विद्युत् चिकित्सा करने वाले यन्त्र को जब किसी अङ्गपर लगाते हैं तब जितना अधिक जल लगाते हैं उतना ही तीव्र विद्युत् यन्त्र चलता है। और काष्ठफलक पर खड़ा होकर व्यक्ति बिजली के तार को स्पर्श कर सकता है।

इस प्रकार जब हम जल हाथ में लगाकर अङ्गों पर हाथ लगाते हैं तब विद्युत् का संचार अङ्गों पर होता है। उधर जब हाथ किसी अङ्ग पर लगे तब सारी मानसिक शक्ति उसी अङ्ग पर जम जावे तब लाभ होगा।

यह अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिये कि कि सारी शक्तियां आत्मा के अन्दर विद्यमान हैं मन को बलवान्

बनाकर आत्मिक शक्ति का विकास किया जा सकता है। जब हमारे सब अङ्ग ठीक और पवित्र होंगे तभी सब धार्मिक कृत्य हो सकेंगे। इस प्रकार इस पवित्रीकरण प्रकरण द्वारा अपने आप को सर्वात्मना ठीक करके अगले कर्म में प्रवृत्त हो।

इति
श्री १०८ महर्षि दयानन्दसरस्वतीसंकलितायाम्,
आचार्य विश्वश्रवसा व्याख्यातायाम्,
यज्ञपद्धतौ द्वितीयं प्रकरणं
समाप्तम्।

———

(अथ तृतीयं प्रकरणम्)

प्रधान विषय—'ओ३म् भूर्भुवः स्वः से 'ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' तक ।

(संस्कार विधि)

पूर्वोक्त[1] समिधाचयन वेदि में करें, पुनः—

ओं भूर्भुवः स्वः। *(गोभिल गृ० प्र० १। खं० १। सू० ११॥)*

(सामान्यप्रकरणम्)

(तीनों लोकों का ज्ञान)

अर्थ—(ओ३म्) प्रारम्भार्थक प्रयुक्त है। (भूः) पृथिवी लोक (भुवः) अन्तरिक्षलोक (स्वः) द्युलोक । इन तीनों लोकों का वर्णन इस प्रकरण में दिखाया जाताहै ।

१—पलाश, शमी, पीपल वड़ गूलर आम विल्व आदि की समिधा वेदि के प्रमाणे छोटी बड़ी कटवा लेवें । परन्तु ये समिधा कीड़ा लगी मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ से दूषित न हों अच्छे प्रकार देख लेवें और चारों ओर बीच में चुनें।
(संस्कारविधि सामान्यप्रकरणम्)

(संस्कार विधि)

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला, अथवा घृत का दीपक जला, उससे कपूर में लगा, किसी एक पात्र में धर, उस में छोटी छोटी लकड़ी लगा के यजमान या पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा, यदि गर्म हो तो चिमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से आधान करें वह मन्त्र यह है—

ओ३म्-भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव
व्वरिम्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि
पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥

(यजु० ३।५॥)

(सामान्य प्रकरणम्)

(पदच्छेद)

भूः । भुवः । स्वः । द्यौः । इव । भूम्ना । पृथिवी । इव । वरिम्णा । तस्याः । ते । पृथिवि । देवयजनि । पृष्ठे । अग्निम् । अन्नादम् । अन्नाद्याय । आ । दधे ।

(यज्ञ के दो लक्ष्य)

इस यज्ञ की पद्धति से ज्ञान पूर्वक यज्ञ करने के दो लाभ हैं—

अर्थ—१-(भूः) पृथिवीलोक (भुवः) अन्तरिक्ष लोक (स्वः) द्युलोक । इनके ज्ञान के लिये ।

हम यज्ञ की विस्तृत पद्धति में दोनों बाते सीखते हैं । ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त चित्र मनुष्य का पिण्ड है । जैसे भूगोल के चित्र को देखकर भूगोल में स्थित समस्त द्वीप द्वीपान्तरों की स्थिति को मनुष्य समझ लेता है इसी प्रकार योगी पिण्ड के अन्दर सब ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार करता है तब यज्ञ की वेदी रचकर छात्रों को सब लोकों की स्थितियों को समझाता है । पद्धति के प्रकार को समझने का तो लाभ यह है । और उधर जो पदार्थ अग्नि कुण्ड में पड़ रहे हैं उनका लाभ यह है कि—

अर्थ—२-और (अन्नाद्याय) भक्षणीय अन्न की प्राप्ति के लिये (अन्नादम्) भक्षणयोग्य पदार्थों को खाने वाले (अग्निम्) अग्नि का (आदधे) आधान करता हूँ ।

यज्ञ कुण्ड में जो आहुति डाली जाती है वह पदार्थ अग्नि में जलकर नष्ट नहीं होजाता प्रत्युत उस पदार्थ की शक्ति सहस्र गुणित बढ़ जाती है । जैसे एक मिर्च अग्नि में जलाकर देखो कि वह कितना धांस पैदा करती

है। इसी प्रकार अग्नि में डाले पदार्थ अग्नि में जलकर वर्षा के द्वारा उस खाये पदार्थ की सहस्र गुण वृद्धि करते हैं।

(यज्ञ का अधिकारी)

अर्थ—(द्यौः इव) सूर्य के समान (भूम्ना) ऐश्वर्य से युक्त और (पृथिवी इव) पृथिवी के समान (वरिम्णा) आश्रय दातृत्व आदि श्रेष्ठ गुणों से युक्त जो मनुष्य है वह ही अग्नि का आधान करे।

जिस प्रकार सूर्य अपने समीपवर्ती चन्द्र नक्षत्र आदि से शोभायमान है इसी प्रकार जो व्यक्ति धन सम्पत्ति ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है वही बड़े बड़े याग कर सकता है। यज्ञ करने वालों को यज्ञ की सिद्धि के लिये सम्पत्ति भी उपार्जन करनी चाहिये और सम्पत्ति वालों को अपनी सम्पत्ति यज्ञ के कार्यों में लगानी चाहिये। यज्ञ में लगी सम्पत्ति पुनः संपत्ति की वृद्धि के लिये होगी। साथ ही जो व्यक्ति सम्पत्ति पाकर अभिमानी होगा मनुष्य को मनुष्य न समझेगा दरिद्रों का आश्रय न बनेगा वह यज्ञ का अधिकारी नहीं। जिस प्रकार पृथिवी सब का आश्रय है इसी प्रकार संपत्ति वालों को सब को आश्रय देने वाला बनकर यज्ञ का अधिकारी

बनना चाहिये। अन्यथा जिस व्यक्ति का वाह्य संसार के साथ सम्बन्ध दुष्ट है वह यज्ञ करके सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। स्वाहा स्वाहा उसका कहना व्यर्थ प्रलाप मात्र है।

(कौन सी भूमि में यज्ञ सफल होता है)

अर्थ—(देवयजनि) जहां देव अर्थात् विद्वान् यज्ञ करते हैं अथवा जहां देवों—विद्वानों का सत्कार होता है इस प्रकार की हे (पृथिवि) भूमि (तस्याः) उस (ते) तेरे (पृष्ठे) ऊपर मैं अग्नि का आधान करता हूं।

यज्ञ वहां ही सफल होता है जहां लोग वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करके मन्त्रों के अर्थों को समझते हुए यज्ञ करते हैं न कि केवल मन्त्रों को और वह भी अशुद्ध रटकर बिना अर्थ जाने बेढंगेपन से स्वाहा स्वाहा जो कर लेते हैं। अथवा वहां यज्ञ सफल होता है जहां विद्वानों का आदर सत्कार होता है। जब विद्वानों का सत्कार होगा तब विद्वानों की वृद्धि होगी। यज्ञ आदि के स्वरूप जो ऋषियों ने साक्षात्कार किये हैं वे परम्परा से सुरक्षित रहेंगे और जब विद्वान् और अविद्वान् एक दृष्टि से देखे जावेगें तब विद्या का नाश होकर यज्ञ के

स्वरूप और उन यज्ञों के साक्षात्कार नष्ट होजावेगें, तब यज्ञ को भी व्यर्थ समझकर जनता छोड़ देगी। यज्ञ बन्द हो जावेंगे।

(संस्कार बिधि)

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे छोटे काष्ठ और कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे—

ओ३म् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते स ँ सृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

(यजु० अ० १५। मं० ५४॥)

(सामान्यप्रकरण)

(पदच्छेद)

उत्। बुध्यस्व। अग्ने। प्रति। जागृहि। त्वम्। इष्टापूर्ते। सम्। सृजेथाम्। अयम्। च। अस्मिन्। सधस्थे। अधि। उत्तरस्मिन्। विश्वे। देवाः। यजमानः। च। सीदत॥

(यज्ञ की अग्नि)

अग्नि प्रदीप्त किये बिना केवल समिधाओं में यज्ञ नहीं हो सकता। अग्नि जल भी जावे पर पर्याप्त जगी हुई अग्नि न हो, साधारण ही जल रही हो तब भी उसमें डाली आहुति दिव्य फल नहीं देती। अतः कहा है कि:—

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि (उद्बुध्यस्व) प्रकट हो और (प्रतिजागृहि) पर्याप्त जलने लग, तब ही तुझ में यज्ञ किया जायगा उससे पूर्व नहीं।

(शुष्क यज्ञ फलदायक नहीं)

अग्नि और यजमान दोनों मिलकर इष्ट और पूर्त को पूर्ण करें। इष्ट=यज्ञ आदि, पूर्त=तालाब कुआं बनवाना धर्मशाला विद्यालय आदि बनवाना। अग्नि यज्ञाहुति को द्युलोक में पहुँचा कर वर्षा आदि का कार्य करके यज्ञ को पूर्ण करे और यजमान परोपकार आदि कृत्यों को भी साथ साथ करता जावे। केवल शुष्क यज्ञ ही करने वाला न बन जावे। अथवा यज्ञ को अग्नि सफल बनावे और यजमान पूर्त अर्थात् पूर्ण साधनों को जुटावे इस प्रकार दोनों मिलकर यज्ञ को पूरा करें अतः मन्त्र ने कहा कि—

अर्थ—(त्वम्) हे अग्ने तू (च) और (अयम्) यह मैं यजमान (इष्टापूर्ते) इष्ट और पूर्त को (संसृजेथाम्) मिलकर संपादन करें।

(उन्नति के पथ पर)

मनुष्य जिस अवस्था में आज यज्ञ कर रहा है उस से उत्तरोत्तर उन्नति की ओर जा रहा हूँ ऐसा ध्यान करे। वैसे ही कर्मों के द्वारा भी उत्तरोत्तर अपनी उन्नति करे। अच्छा यह है कि जिस स्थिति में आज यज्ञ कर रहा है कल उससे अधिक अच्छी स्थिति में यज्ञ करे। यज्ञ करता हुआ भी उन्नति नहीं करता तो यज्ञ का क्या लाभ अतः मन्त्र में दो शब्द हैं--

अर्थ—(अस्मिन्) इस में और (उत्तरस्मिन्) इस से अधिक अच्छे (सधस्थे) समान स्थान में यज्ञ होना चाहिये। उन्नति का न होना ठीक नहीं।

(यजमान और पुरोहित में सहयोग और आदर की भावना)

उस यज्ञ में सफलता नहीं होती जहां पुरोहित के अन्दर तो यह भावना हो कि मुझे यज्ञ कराकर अपनी

दक्षिणा लेकर घर जाना है। यह यजमान मूढ़ है। यह क्या जाने कि ठीक पद्धति से यज्ञ हुआ या नहीं। यदि चारों वेदों का पारायण होरहा है तो कुछ अध्याय छोड़ भी दिये जावे तो भी यजमान को क्या पता। यदि मैं अशुद्ध मन्त्र बोलता हूँ तो यजमान क्या समझे। पद्धति क्रम को भी यदि मैं ठीक नहीं करपाता तो भी क्या हानि। यहां समझने वाला ही कौन है। यहां तो केवल इतना ही होना है कि आज यजमान के यहां बड़ा यज्ञ होगया और दक्षिणा मिल गई।

उधर यजमान के अन्दर भी यदि यह भावना है कि यज्ञ का फल तो मुझे मिल ही जायगा चाहे मूर्ख पुरोहित हो या योग्य हो। फल तो भावना में है। यदि पुरोहित को नहीं आता तो वह जाने मैंने तो यज्ञ करा लिया। घृत आदि पदार्थ अग्नि में पड़कर हवा शुद्ध करेंगे ही। चाहे शुद्ध मन्त्र बोलकर हवन करो चाहे अशुद्ध मन्त्र बोलकर हवन करो। हवा की शुद्धि में क्या अन्तर पड़ेगा। दक्षिणा भी पुरोहित को इस लिये दे दी है कि ये लोग बुरा न माने अन्यथा दक्षिणा भी

पण्डितों का ढोंग है। हम क्या हवन स्वयं नहीं कर सकते। मन्त्र यदि कण्ठस्थ न होंगे तो पुस्तक देखकर मन्त्र बोल लेंगे। इत्यादि भावना यदि यजमान और पुरोहित के अन्दर है तो वह यज्ञ कभी सफल नहीं होगा अतः मन्त्र में कहा कि--

अर्थ—(सधस्थे) समान आदर भाव के स्थान में (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् पुरोहित आदि (च) और (यजमानः) यजमान (अधि+सीदत) अधिकार के अनुसार बैठो।

अर्थात्—पुरोहितों और यजमान का आसन अधिकार के अनुसार हो। भाव यह है कि पुरोहितों के आसन यजमान की अपेक्षा उत्कृष्ट हों। और यजमान के हृदय में ऋत्विजों की प्रतिष्ठा हो।

(ज्ञान+कर्म+उपासना)

"उद्बुध्यस्व प्रतिजागृहि+संसृजेथाम्+सीदत"

मन्त्र में अग्नि शब्द में संबोधन है। जड़ वस्तु में संबोधन हो नहीं सकता। क्योंकि जड़ वस्तु में सुनने की शक्ति नहीं फिर यह कैसे कहना बन सकता है कि

हे आग, क्या वह सुनती है। अतः विदित होता है कि अन्य अर्थ भी है अर्थात् यहां आत्मा को सम्बोधन करके कहा जारहा है कि—

अर्थ—(अग्ने) हे आत्मा (उद्बुध्यस्व) ज्ञान प्राप्त कर (प्रतिजागृहि) ज्ञान का भंडार बन। थोड़े ज्ञान से कार्य नहीं चलेगा। इस से ज्ञान की प्रथम आवश्यकता बताई क्योंकि ज्ञान के बिना कर्म नहीं होता। (त्वम्) तू आत्मा (च) और (अयम्) यह परमात्मा (इष्टापूर्ते) इष्ट और पूर्त को (संसृजेथाम्) मिलकर संपादन करें।

आत्मा तो इष्ट कर्मों को करने में तत्पर रहे और परमात्मा पूर्त अर्थात् भक्त की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का ध्यान रखे। इससे कर्म का वर्णन किया। आगे कहा है कि--

अर्थ—(अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) उन्नत होते हुए (सधस्थे) समान गुण कर्म स्वभाव में (विश्वे) सब (देवाः) भगवान की दिव्य शक्तियां (च) और (यजमानः) यजमान (अधिसीदत) अधिकार के अनुसार स्थिति हों।

१—प्रभु के मार्ग पर जब चलेगा तब उत्तरोत्तर उन्नति की ओर जावेगा।

२—उपासना का अर्थ है कि जैसे परमात्मा के गुण आदि हैं वैसे अपने भी बनाना। परमात्मा के से गुण अपने अन्दर धारण करना उसके अनुसार अपने को बनाना ही उपासना कहाती है।

३—परन्तु परमात्मा के समान सब कार्य हम नहीं कर सकते अतः कहा है कि अधिकार के अनुसार स्थित हों। जितने और जिस मर्यादा में प्रभु के गुण आवेगें उतने और उसी मर्यादा में आ सकते हैं। इससे उपासना का विषय बताया।

आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से मन्त्रों में अग्नि आदि शब्दों में संबोधन हुआ करता है। उन मन्त्रों के भौतिक अर्थ में अग्नि आदि शब्दों को संबोधन से बदल कर प्रथमा विभक्ति कर देनी पड़ती है। मन्त्रों में या तो संबोधन रखकर वर्णन हो सकता था या प्रथमा विभक्ति रखकर। किसी भी एक अर्थ में बदलना अवश्य पड़ता। मन्त्र में संबोधन रखने में भौतिक अर्थ में बदलना पड़ता है। मन्त्र में प्रथमा रखने में आध्यात्मिक अर्थ में बदलना पड़ता। अतः आध्यात्मिक अर्थ प्रधान बताने की दृष्टि से मन्त्रों में अग्नि आदि में संबोधन रखे गये हैं।

(संस्कारविधि)

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ २ अङ्गुल की घृत में डुबो उनमें से नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ समिधा को अग्नि में चढ़ावे वे मन्त्र ये हैं—

ओ३म्-अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्ना-द्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥१॥

(आश्वलायन गृ० १।१०।१२॥)

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये इदं न मम ॥

इससे और

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥३॥

इस मन्त्र से अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी।

ओं तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे इदं न मम ॥४॥

(यजु० अ० ३। मन्त्र १, २, ३ ॥)

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे ।

(सामान्यप्रकरण)

(पदच्छेद)

अयम् । ते । इध्मः । आत्मा । जातवेदः । तेन । इध्यस्व । वर्धस्व । च । इद्ध । वर्धय । च । अस्मान् । प्रजया । पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेन । अन्नाद्येन । सम् । एधय । स्वाहा । इदम् । अग्नये । जातवेदसे । इदम् । न । मम ।

अर्थ—हे (जातवेदः) हे अग्ने ! (अयम्) यह (इध्मः) समिधा (ते) तेरा (आत्मा) जीवन है (तेन) उस समिधा से (इध्यस्व) प्रकट हो (च) और (वर्धस्व) बढ़ ।

(आध्यात्मिक पक्ष)

अर्थ—हे (जातवेदः) जाते जाते विद्यत इति जातवेदः हे सर्व व्यापक परमात्मन् ! (अयम्) यह (आत्मा)

जीवात्मा (ते) तेरा (इध्मः) समिधा के समान बन जावे। जैसे अग्नि में पड़कर समिधा अग्नि के समान हो जाती है वैसे ही हे भगवन्! मेरा जीवात्मा तुझ में तुझ जैसा हो जावे। (तेन) उससे अर्थात् तुझ में मैं जब अपनी आहुति डालूँ तब तू (इध्यस्व) प्रकट होजा साक्षात्कार हूजिये और (वर्धस्व) अपनी ऐसी प्रजा से वृद्धि को प्राप्त हूजिये। अर्थात् ऐसी बहुत सी प्रजाएं आप की होजावें।

जिस प्रकार अग्नि यह कह सकती है कि यदि कोई मेरे पास आवेगा तो मैं जलादूंगी। पर समिधा या लोहे का गोला यह बात नहीं कह सकता। हां जब समिधा या लोहे का गोला अग्नि में गिर कर अपने को आग जैसा बना लेता है तब समिधा और लोहे का गोला भी यह कह सकता है कि जो मेरे पास आवेगा उसको मैं जला दूंगा। अग्नि में पड़ कर अग्नि की बोली बोलने लगते हैं। वैसे ही जीवात्मा भी परमात्मा में अपनी आहुति देकर परमात्मा की बोली में बोलने लगते हैं। जैसे श्रीकृष्ण जी गीता में बोले हैं। इसी बात को वेदान्त दर्शन में स्पष्ट लिखा है कि—

"न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्" (वेदान्त १।१।२६॥)

अर्थात्--इस प्रकार के कहने वाले अपने आप को नहीं कहते प्रत्युत परमात्मा का अत्यन्त सम्बन्ध अपने आप में बनाकर परमात्मा की बोली में बोलते हैं ऐसा सर्वत्र समझना।

अर्थ--(इद्ध[१]) प्रदीप्त करो (च) और (वर्धय) बढ़ाओ (अस्मान्) हमको (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेज से और (अन्नाद्येन) भक्षणीय अन्न से तथा च हे नाथ! (सम्) पूर्णरूप से (एधय) समिधा के समान हमें बनाओ (स्वाहा) यह मैं जैसा कहता हूं वैसा अपने आप को बनाऊँगा भी (इदम्) यह कर्म (जातवेदसे) सर्व व्यापक (अग्नये) परमात्मा की प्राप्ति के लिये है (इदम्) यह कर्म (मम) मेरा (न) नहीं है अर्थात् इस कर्म में मैं अपनेपन की भावना कुछ नहीं करता न फल की इच्छा करता हूं।

१—इद्ध=इन्धय दीपय। णिज्लोपऽत्र द्रष्टव्यः। पूर्व वाक्य में 'इध्यस्व' और वर्धस्व' आया है उसी के सम्बन्ध में दोनों के णिजन्तरूप 'इद्ध' और 'वर्धय' उसी क्रम से रखे हैं। (देखो आश्वलायनगृह्यमन्त्रव्याख्या हरदत्तमिश्रकृता)

(पदच्छेद)

समिधा । अग्निम् । दुवस्यत । घृतैः । बोधयत ।
अतिथिम् । आ । अस्मिन् । हव्या । जुहोतन ।
स्वाहा । इदम् । अग्नये । इदम् । न । मम ।

(हवन का सामान और उसका क्रम)

अर्थ--(समिधा) समिधाओं से (अग्निम्) अग्नि को (दुवस्यत) सेवन करो (अतिथिम्) अतिथि के समान अर्थात् आदर पूर्वक ।

बिना अग्नि जलाये आहुतियां नहीं दी जा सकतीं। परन्तु यह अग्नि कई प्रकार से जल सकती है । मट्टी के तेल से, पेट्रोल से, सरसों आदि के तेल से, फूस से, और कपड़े जलाकर भी अग्नि जलाई जा सकती है । अतः वेद बताता है कि यज्ञ के लिये समिधाओं द्वारा अग्नि तैयार करनी चाहिये । और यज्ञ के निमित्त जलाई हुई उस अग्नि में और खाना पकाने वाली चूल्हे की अग्नि में हमारी दृष्टि में अन्तर होना चाहिये । खाना पकाने वाली अग्नि साधारण अग्नि है पर यह जो यज्ञ की

अग्नि है इस के प्रति हमारी आदर दृष्टि उसी प्रकार की होनी चाहिये जैसा अतिथि के प्रति हमारा आदर होता है।

अर्थ—(घृतैः) घृत से (बोधयत) अग्नि को बढ़ाओ।

आरम्भ में समिधाओं से अग्नि को प्रदीप्त करे। उसके अनन्तर घृत की आहुतियां प्रारम्भ करनी चाहिये। प्रारम्भ में शाकल्य नहीं डालना चाहिये। साथ ही यह बात भी बताई है कि अग्नि जलने के बाद कई वस्तुओं से अग्नि बढ़ाई जा सकती है। परन्तु घृत से ही अग्नि को बढ़ाना उचित है। यज्ञाग्नि में घृत की आहुतियां दी जाती हैं अन्य उद्दीपक पदार्थों की आहुतियां निषिद्ध हैं।

(सामग्री डालने वाले कहां कहां बैठे)

अर्थ—(अस्मिन्) घृत की आहुतियां पड़ी हुई इस में अग्नि इसके अन्तर (हव्या) अनेक प्रकार के शाकल्यों को (आ) सब ओर बैठकर (जुहोतन) आहुतियां दो।

(स्वाहा) इसको मैं ठीक ठीक समझ कर कार्य कर रहा हूं (इदम्) यह (अग्नये) अग्निकेन्द्र पृथ्वी लोक की शुद्धि आदि के लिए है (इदम्) यह कर्म (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता। निष्काम भाव से यह कर्म कर रहा हूँ।

नोट १—आरम्भ में जो अग्नि जलती है उसमें दी हुई आहुति पृथ्वी लोक तक ही रहती है।

मन्त्र में यह भी बताया है कि घृत की कुछ आहुतियां देकर सामग्री की आहुतियां देनी चाहिये तथा घृत की आहुति देने वाला एक ओर बैठता है पर सामग्री की आहुति वाले अन्य सब ओर बैठते हैं।

(पदच्छेद)

सुसमिद्धाय। शोचिषे। घृतम्। तीव्रम्। जुहोतन। अग्नये। जातवेदसे। स्वाहा। इदम्। अग्नये। जातवेदसे। इदम्। न। मम।

(अग्नि और घृत का स्वरूप कैसा हो)

इद्ध का अर्थ है—जलती हुई आग। समिद्ध का अर्थ है-अधिक जलती हुई आग। सुसमिद्ध का अर्थ है-तीव्रता के साथ अधिक जलती हुई आग। इतनी प्रचण्ड जलने वाली आग आहुति के लिये उपयोगी होती है।

घृत शब्द का अर्थ है—पिघला हुआ घी और तीव्र शब्द का अर्थ है—तेज़ अर्थात् लाल तपा हुआ घी। अर्थात् उस घृत की आहुति नहीं डालनी चाहिये जो जमा हुआ हो या साधारण गरम किया हुआ हो। प्रायः लोग धुएं वाली अग्नि में आहुति दे चलते हैं और घी को अग्नि पर दिखा कर स्रुवा से घोट घोट कर आहुति देना प्रारम्भ कर देते हैं। इससे घृत व्यर्थ जाता है। प्रचण्ड ज्वाला में लाल अंगारा हुआ घी जब पड़ता है तब उस में दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है अतः मन्त्र में कहा है कि—

अर्थ—(सुसमिद्धाय)[१] अत्यन्त तीव्रता से जलती हुई (शोचिषे)[१] अग्नि की ज्वाला में। (तीव्रम्) अत्यन्त तपे हुये (घृतम्) घृत की (जुहोतन) आहुतियां दो। (जातवेदसे) वैद्युत (अग्नये) अग्नि केन्द्र अन्तरिक्ष लोक के लिये।

(स्वाहा) इसको मैं ठीक ठीक समझ कर कार्य कर रहा हूं (इदम्) यह (जातवेदसे) वैद्युत (अग्नये) अग्नि केन्द्र अन्तरिक्ष लोक की शुद्धि आदि के लिये है (इदम्) यह कर्म (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इस में

१—सप्तम्यर्थे चतुर्थी।

फल की कामना मैं नहीं करता। निष्काम भाव से यह कर्म कर रहा हूँ।

नोट २--अर्थात् अग्नि जब कुछ और अधिक जलती है तब उस में दी हुई आहुति अन्तरिक्ष लोक तक जाती है।

(कौन सी आहुति कहां तक पहुँचती है)

इद्ध अग्नि में दी हुई आहुति पृथ्वी लोक में रहती है। समिद्ध अग्नि में दी हुई आहुति अन्तरिक्ष लोक तक जा सकती है और सुसमिद्ध अग्नि में जो आहुति डाली जाती है वह द्युलोक तक पहुंच जाती है। अतः सुसमिद्ध अग्नि में आहुति डालनी चाहिये जिससे पृथ्वी लोक से लेकर द्युलोक तक आहुति पहुंच कर दिव्य फल दे सके।

(समिधाओं पर घृत नहीं डालना चाहिये)

मन्त्र में लिखा है कि (शोचिषे) लपट में आहुति दो अर्थात् अग्नि की ज्वाला पर आहुति डालनी चाहिये जो पड़ते पड़ते जल जावे। समिधाओं के जलाने के दृष्टि-कोण से जो समिधाओं पर घृत की आहुति डालते हैं या समिदाधान में जो घृत समिधाओं में लगाया जाता

है वह घृत जलकर भी द्युलोक को नहीं पहुंचता। ऐसे घृत का उपयोग समिधाओं के जलने तक ही है।

पदच्छेद

तम्। त्वा। समिद्भिः। अङ्गिरः। घृतेन। वर्धयामसि। बृहत्। शोच। यविष्ठ्य। स्वाहा। इदम्। अग्नये। अङ्गिरसे। इदम्। न। मम।

(अग्नि कुण्ड में समिधाएं निरन्तर डालनी चाहिए)

अर्थ—(अङ्गिरः) हे अग्नि (तम्) उस (त्वा) तुझ को (समिद्भिः) समिधाओं से और (घृतेन) घृत से (वर्धयामसि) निरन्तर बढ़ाते हैं।

पहले कुछ समिधाएं लगा कर यज्ञ आरम्भ किया जावे और बाद में यदि समिधाएं न भी डाली जावें तब भी यदि शनैः शनैः थोड़ी घृत और सामग्री की आहुति चलती रहें तो अग्नि जलता रहेगा। लपट निकलती रहेगी पिण्ड सा बन जावेगा उस पर घृत की आहुति छोड़ते रहो वह जलता रहेगा। सामग्री समिधा के समान जलती रहेगी। यद्यपि समिधाओं की आवश्यकता नहीं पड़ेगी परन्तु यह प्रकार

यज्ञ का ठीक नहीं है। यज्ञ का उद्देश्य तभी पूरा होता है जब प्रचण्ड ज्वाला में घृत या सामग्री की आहुति पड़े। अतः मन्त्र के लिखा है कि समिधाओं को निरन्तर डालते रहना चाहिये।

(घृत की आहुति का समय)

समिदाधान करके अग्नि के जलने की प्रतीक्षा करें। जब अग्नि अपनी अत्यन्त युवास्था में पहुँच जावे तब मन्त्र बोलकर आहुति देवे। उससे पहले अग्नि को जलाने के लिये जो आप अग्नि में घृत डालेंगे वह अग्नि को प्रज्वलित तो करेगा परन्तु वह घृताहुति द्युलोक तक नहीं पहुँच सकेगी अतः मन्त्र बोलकर जो आहुति आप देवें वह प्रचण्ड अवस्था को अग्नि के पहुँचने पर ही देवें। मन्द अग्नि में दी हुई आहुति वैसी ही है जैसे अजीर्ण मन्दाग्नि अवस्था में उदर में डाला हुआ सुन्दर भोजन। जो विष्ठा बनकर ही निकल जाता है। न उसका परिपाक होता है और न उसका रस रक्त आदि ही बनता है। इसी प्रकार मन्द अग्नि में जो घृत या सामग्री आदि की आहुति दी जाती है वह जलकर राख अवश्य हो जाती है परन्तु वह आहुति द्युलोक में नहीं पहुँचती और न अन्तरिक्ष में ही अपना कार्य करती है। अतः घृताहुतियां प्रारम्भ होने से

पहले अग्नि को अत्यन्त युवावस्था में पहुँचा लो जैसा मन्त्र में लिखा है कि—

अर्थ—(यविष्ठय) हे अत्यन्त युवा अग्नि (बृहत्) अत्यन्त (शोच) प्रज्वलित होले (स्वाहा) इसको मैं ठीक ठीक समझ कर कार्य कर रहा हूं (इदम्) यह (अङ्गिरसे) दिव्य (अग्नये) अग्नि केन्द्र द्युलोक की शुद्धि आदि के लिये है (इदम्) यह कर्म (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता। निष्काम भाव से यह कर्म कर रहा हूं।

नोट ३—अग्नि जब अत्यन्त अधिक प्रचण्ड हो जाती है तब उसमें दी हुई आहुति द्युलोक तक पहुंच जाती है। इतना होने पर पञ्चाहुतियां प्रारम्भ करें।

(अग्नये-अग्नये जातवेदसे-अग्नये अङ्गिरसे में भेद)

'समिधाग्निम्०' मन्त्र में 'इदमग्नये इदं न मम' है।

'सुसमिद्धाय०' मन्त्र में 'इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम' है।

तं त्वा समिद्भि०' मन्त्र में 'इदमग्नये अङ्गिरसे इद न मम' है।

वेद के तीनों मन्त्रों में अग्नि के उत्थान का क्रम ऋषिवर दयानन्द ने देखा। अतः वेद के इन तीनों मन्त्रों के द्वारा दिखाया है कि प्रारम्भावस्था में जो

अग्नि जलती है उसमें दी हुई आहुति अग्नये=अग्नि केन्द्र पृथिवी लोक के लिये जाती है। फिर मध्यावस्था में जलती हुई अग्नि में दी हुई आहुति अग्नये जातवेदसे=वैद्युत अग्नि के केन्द्र अन्तरिक्ष लोक के लिये जाती है। फिर उत्तमावस्था में जलती हुई अग्नि में दी हुई आहुति अग्नये अङ्गिरसे=दिव्य अग्नि के केन्द्र द्युलोक के लिये जाती है। अतः 'अग्नये'-'अग्नये जातवेदसे'-'अग्नये अङ्गिरसे' यह क्रम रखा गया है।

(क्या एक मन्त्र से "स्वाहा" और "इदं न मम")

निकाल देवें ?

कुछ लोग कहते हैं कि जब 'समिधाग्निम्' इस मन्त्र से पृथक् आहुति नहीं तो इस मन्त्र के आगे 'स्वाहा' और 'इदमग्नये इदं न मम' नहीं होना चाहिये। बहुत सी पुस्तकें ऐसी छप भी गई हैं जिनमें बहुत सी ऐसी बातों का संशोधन कर दिया गया है और ऐसा ही करने भी लग गये हैं। कुछ भक्त लोग कहने लग गये कि स्वामी जी इस मन्त्र के आगे 'स्वाहा' और 'इदमग्नये इदं न मम' को काटते काटते रह गये। ये सब बाते इसी लिये पैदा हुई कि वे अग्नये-अग्नये जातवेदसे-अग्नये अङ्गिरसे को समझ न सके। इसीलिये भाष्यकार पतञ्जलि को कहना पड़ा है कि—

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" 'अमृतोपस्तरणमसि आदि मन्त्रों में स्वाहा' 'चित्रं देवानां' आदि मन्त्रों में स्वाहा' बोलते हुये किसी को कोई विचार नहीं उठता कि इन में 'स्वाहा' बोलकर आहुति क्यों नहीं। कुछ लोग दो मन्त्रों से एक आहुति का कारण नहीं जानते थे अतः 'सन्देहादलक्षणम्' वाले चल गये। जिसका वर्णन मैं आगे करता हूँ।

(उद्देश्य की पूर्ति के तीन साधन)

(दो मन्त्रों से एक समिधा की आहुति क्यों)

उद्देश्य की पूर्ति के लिये तीन साधनों की आवश्यकता है—

१—सबसे प्रथम मनुष्य अपने आप को तैयार करे। अपने आप को पहले कार्य करने में समर्थ अर्थात् योग्य बनावे।

२—उसके अनन्तर अपने साथियों को पैदा करे। साथियों को तैयार करे।

३—उसके अनन्तर स्वयं तथा साथी मिलकर कार्य करने में जुट जावें।

जो मनुष्य स्वयं उस कार्य के करने में समर्थ नहीं है उसको साथी नहीं मिल सकते। स्वयं योग्य मनुष्य

भी बिना साधनों के, बिना साथियों के कुछ नहीं कर सकता। स्वयं भी योग्य हो और साथी भी मिल जावें तब भी सब मिलकर कार्य करना प्रारम्भ न करें तो केवल योग्यता किसी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकती।

१—समिदाधान के पहले मन्त्र में बताया है कि 'अयं आत्मा ते इध्मः' अर्थात् हे उद्देश्य! तेरी सिद्धि के लिये सब से पहले यह मेरा आत्मा इन्धन बनेगा। अपनी आहुति देकर भी उद्देश्य सिद्ध करूंगा। उसकी तैयारी के लिये स्वयं ब्रह्मवर्चस आदि की प्राप्ति के लिये यत्न करता है।

२—इसके अनन्तर वह अपने साथियों को तैयार करता है और दूसरों से कह रहा है कि--

दुवस्यत+बोधयत+जुहोतन=जुहोतन

अर्थात्—हे मेरे साथियों!

(दुवस्यत) सेवा का भाव अपने अन्दर पैदा करो!

(बोधयत) उठ खड़े हो!!

(जुहोतन+जुहोतन) अपनी आहुति दो=अपनी आहुति दो!!!

ये मध्यम पुरुष के प्रयोग दूसरे और तीसरे समिधा के मन्त्रों में हैं। दोनों मन्त्रों का विषय एक है।

३—इसके अनन्तर सब मिलकर एक साथ बोलते हैं—

(वर्धयामसि) आओ हम सब मिलकर इस कार्य को अन्तिम अवस्था तक पहुंचा डालें। यह उत्तम पुरुष के प्रयोग वाला एक ही मन्त्र है।

इसी भाव और प्रकार को अपने अंदर भी अनुभव करता जावे।

इस बात को समासोक्ति अलंकार जानने वाले सरलता से समझ सकते हैं कि यह भाव कैसे निकला।

(तत्त्वानभिज्ञों का कहना)

कुछ तत्त्वानभिज्ञ लोग ऐसा कहते हैं कि 'अयं त इध्म आत्मा' मन्त्र से समिधा नहीं चढ़ानी चाहिये प्रत्युत 'समिधाग्निं दुवस्यत' मन्त्र से एक समिधा। तथा 'सुसमिद्धाय शोचिषे' मन्त्र से दूसरी समिधा और 'तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो' मन्त्र से तीसरी समिधा चढ़ानी चाहिये। क्योंकि 'अयं त इध्म आत्मा' वेदमन्त्र नहीं है। यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में समिधा के जो मन्त्र हैं वहां 'समिधाग्निम्' यही पहला समिधा का मन्त्र है।

ये ही तीनों मन्त्र यजुर्वेद के आरम्भ में एक साथ पढ़े गये हैं ।

लिया

ज

क ...यार

और

टियां

को

थियों

पृथक्

ं का

ी दो

न में

चाहे

छोड़ने

में दो

। यदि

...रे समिधा

।

...थ बोलते

...नकर इस

...ह उत्तम

...ी अनुभव

...ानने वाले

...निकला ।

... 'अयं त

...ा चाहिये

...ा । तथा

... और 'तं

...ा चढ़ानी

...नहीं है ।

... मन्त्र हैं

...न्त्र है ।

ये ही तीनों मन्त्र यजुर्वेद के आरम्भ में एक साथ पढ़े गये हैं।

(इसका दुष्परिणाम)

यदि तत्त्वानभिज्ञों का उपर्युक्त सिद्धान्त मान लिया जावे तो दो परिणाम स्पष्ट होंगे—

क. उद्देश्य की पूर्ति में अपने आप को बिना तैयार किये साथियों को ढूंढता फिरे—जैसे संस्कृत और वेद विद्या से स्वयं अनभिज्ञ बाबू लोग कमेटियां बनाकर नौकर पंडितों को संस्था चलाने को ढूंढते फिरते हैं और असफल होते हैं।

ख. 'साभिधाग्निं' और 'सुसमिद्धाय' दोनों में साथियों को तैयार करना लिखा है। इनको पृथक् पृथक् करके एक एक मन्त्र से एक एक आहुति देने का अभिप्राय यह होगा कि अपने साथियों में भी दो पार्टियां पैदा करें। कोई नेता अपने जीवन में स्वयं ऐसा नहीं करेगा उसके मरने के बाद चाहे दो दल हों या दस दल।

ऐसी अवस्था में 'तं त्वा०' से तीसरी समिधा छोड़ने वाला अपने आपको बिना तैयार किये साथियों में दो पार्टियां पैदा करके उद्देश्य की सिद्धि चाहता है। यदि

यजुर्वेद के तृतीय अध्याय का क्रम यहां माना जावे तो समिदाधान के पश्चात् अग्न्याधान होना चाहिये क्योंकि यजुर्वेद के तृतीयाध्याय में समिधा के मन्त्रों के पश्चात् ही 'भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव०' मन्त्र है।

शतपथ ब्रह्मण १।१।२।१२॥ में शकट की ईषा के स्पर्श का जो मन्त्र लिखा है वह यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के अष्टम मन्त्र का उत्तरार्थ और नवम मन्त्र का पूर्व भाग मिला हुआ है अर्थात् दो मन्त्र खण्डों से ईषा स्पर्श लिखा है। यजुर्वेद के वे दोनों मन्त्र ये हैं--

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति
तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।

(देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं
देवहूतमम्। यजु० १।८॥

अह्रुतमसि हविर्धान दृꣳहस्व मा ह्वा) र्मा ते
यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।

विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो
यच्छन्तां पञ्च। यजु० १।९॥

यहां दोनों मन्त्रों का जितना भाग कोष्ठक में हमने दिया है वह दोनों मन्त्रों का भाग ईषा स्पर्श में विनियुक्त

है। दो मन्त्रों को मिलाकर ईषा स्पर्श क्यों? शतपथ ब्राह्मणकार ने दोनों का एक विषय और सम्मिलार्थ संगत विचार कर ईषास्पर्श में विनियुक्त किया है। इसी प्रकार ऋषि दयानन्द ने 'समिधाग्निम्०' और 'सुसमिद्धाय०' दोनों मन्त्रों को दूसरी समिधा में विनियुक्त किया है। क्योंकि दोनों मन्त्रों का एक संमिलित विषय है जैसा ऊपर बताया जा चुका है।

(आर्य विद्वानों में मतभेद)

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का स्पष्ट मत है कि 'अयन्त इध्म आत्मा०' मन्त्र से पहली समिधा चढ़ाई जावे और 'समिधाग्निम्०' और 'सुसमिद्धाय०' इन दो मन्त्रों से दूसरी समिधा तथा 'तं त्वा समिद्भि०' इस मन्त्र से तीसरी समिधा चढ़ाई जावे। ऐसा ही ऋषिवर ने सामान्यप्रकरण के अतिरिक्त अन्य भी संस्कारों में चारों ही मन्त्रों का निर्देश किया है। देखो संस्कार विधि का पुंसवन संस्कार, जातकर्म संस्कार, वेदारम्भ संस्कार, विवाह संस्कार वानप्रस्थ संस्कार। इन सभी स्थानों पर अयन्त इध्म आत्मा० आदि चार मन्त्रों से समिदाधान का वर्णन है।

'अयन्त इध्म आत्मा०' इस मन्त्र से समिधा डालने का वर्णन अनेक सूत्रग्रन्थों में पाया जाता है देखो—

जैमिनीयगृह्यसूत्र १।३।। भारद्वाजगृह्यसूत्र १।४।। आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१०।१२।। हिरण्यकेशीय गृह्यसूत्र १।२।१२।।

इसी प्रकार ऋग्वेद ब्रह्मकर्म समुच्चय तथा भास्करविरचित संस्कार पद्धति आदि ग्रन्थों में भी 'अयन्त इध्म आत्मा०' मन्त्र से समिदाधान का विधान है।

याज्ञिक अनन्त देव ने भी समिधाग्निम्, और 'तं त्वा समिद्भि०' मन्त्रों को तो 'समिदाधाने विनियोगः' लिखा है परन्तु 'सुसमिद्धाय०' मन्त्र को तो 'जपे विनियोगः' लिखा है 'समिदाधाने विनियोगः' नहीं लिखा। संभव है कि अनन्तदेव ने 'सुसमिद्धाय०' मन्त्र में समिधा वाचक कोई शब्द न देखने के कारण इस मन्त्र को "जपे विनियोगः" किया हो। क्योंकि 'सुसमिद्धाय' शब्द का अर्थ है अत्यन्त अच्छी तरह जलती हुई (अग्नि) समिधावाचक शब्द इस मन्त्र में नहीं है ऐसा उसने समझा होगा।

ऋषि दयानन्द की जो यह पङ्क्ति संस्कार विधि में है कि—

नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ समिधा
को अग्नि में चढ़ावे

(संस्कारविधि सामान्यप्रकरण)

यहां भी 'समिधाग्निं०' से ही समिदाधान समझना चाहिये 'सुसमिद्धाय-' मन्त्र का तो विषय एक होने के कारण पाठ मात्र है। इस विषय की एकता को विस्तार से हम ऊपर बता चुके हैं। इस एकता को न समझ सकने के कारण आर्य विद्वानों में मतभेद पै पैदा हुआ। सब विद्वान् यही विवाद करते रहे कि 'अयन्त इध्म आत्मा०' मन्त्र से समिधा चढ़ाना ऋषि दयानन्द संमत है या नहीं। अन्य सूत्र ग्रन्थों में अयन्त इध्म आत्मा से समिदाधान है या नहीं। संस्कार विधि के हस्त लेखों में 'अयन्त इध्म आत्मा'० मन्त्र है या नहीं इत्यादि रूप से विवाद होता रहा। परन्तु सर्वसंमत होने पर भी कारण क्या है जो दो मन्त्रों से एक समिधा चढ़ाना ऋषिवर ने लिखा, इसका ज्ञान किसी को न था। यही दयानन्द का सबसे निराला ऋषित्व है। कारण की उपर्युक्त प्रकार से विवेचना हो जाने पर अब यह विवाद समाप्त हो जाना चाहिये।

(संस्कारविधि)

इन मन्त्रों से समिदाधान करके, होम का शाकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो, सुवर्ण चांदी काँसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठ पात्र में वेदि के पास सुरक्षित धरे, पश्चात् उपरिलिखित घृतादि जो कि उष्ण कर छान पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रखा हो, घृत वा अन्य मोहन भोगादि जो कुछ सामग्री हो उसमें से कम से कम ६ मासा भरकर, अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवें। यही आहुति का प्रमाण है। उस घृत में से चमसा, कि जिसमें छः मासा ही घृत आवे ऐसा बनाया हो, भरके नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देनी।

ओ३म्—अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान्-प्रजया, पशुभि-र्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे इदं न मम ॥१॥

आश्वलायन गृह्य० १।१०।१२॥

(सामान्यप्रकरणम्)

(एक ही मन्त्र से पांच आहुतियां क्यों)

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व किया जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि एक मन्त्र से एक आहुति दी जाती है ऐसा सामान्य नियम सर्वत्र है। परन्तु इस मन्त्र को

पांच बार पढ़ कर पांच आहुतियां दी जाती हैं ऐसा क्यों है ? यह बात बड़ी सरलता से समझ में आ सकती है यदि हम मन्त्र के अर्थ पर ध्यान डालें। इस मन्त्र में पांच वस्तुओं की प्रार्थना है—

१—प्रजया वर्धय=प्रजा से बढ़ा।

२—पशुभिः वर्धय=पशुओं से बढ़ा।

३—ब्रह्मवर्चसेन वर्धय=ब्रह्म तेज से बढ़ा।

४—अन्नाद्येन वर्धय=भक्षणीय अन्न से बढ़ा।

५—समेधय=मुझको ब्रह्माग्नि में पूर्ण रूप से समिधा के समान बना (समिधा के समान कैसे बनाया जाता है इसका वर्णन इसी मन्त्र का अर्थ लिखते समय पूर्व बताया जा चुका है। देखो पृष्ठ १३२-१३४)

इन पांचों बातों पर एक एक बार आहुति देते हुए एक एक बात पर विशेष ध्यान क्रमशः देना चाहिये। आहुति देने का आभ्यन्तर फल तभी होता है जब कि आहुतिदाता अपने अन्दर भी बल देकर उस भाव का अनुभव करता जावे। अतः पांच बार इसी मन्त्र को बोलकर आहुति देते समय प्रजया-पशुभिः-ब्रह्मवर्चसेन-अन्नाद्येन-समेधय, इनमें से किसी एक एक पर विशेष मानसिक ध्यान देवें तब आहुतियों की संख्या में गड़बड़ी

नहीं होगी । अन्यथा यज्ञकर्ता कभी पांच से कम आहुति देता है और कभी पांच से अधिक आहुति दे बैठता है।

(व्याकरण के अनुसार समेधय रूप की सिद्धि)

प्रायः सब ने 'समेधय' शब्द का अर्थ बढ़ाओ, उन्नत कर या समृद्ध कर ऐसा किया है और मन्त्र में आये 'प्रजया' 'पशुभिः' 'ब्रह्मवर्चसेन' 'अन्नाद्येन' इन चारों पदों में से कुछ का अन्वय 'वर्धय' शब्द के साथ जोड़ दिया है और कुछ का समेधय के साथ। मेरी दृष्टि में यह बात असंगत है क्योंकि प्रजया आदि चारों पदों का वर्धय के साथ सीधा सम्बन्ध है ही फिर यदि कोई नवीन बात नहीं है तो 'समेधय' शब्द मन्त्र में निरर्थक ही प्रतीत होगा। अतः 'समेधय' यह स्वतन्त्र वाक्य है। मन्त्र की वाक्य योजना इस प्रकार है कि—

१—हे जातवेदः! अयम् इध्मः ते आत्मा (या—अयम् आत्मा ते इध्मः)

२—तेन इध्यस्व + वर्धस्व च।

३—इद्ध + वर्धय च अस्मान् प्रजया।

४— „ + „ „ „ पशुभिः।

५— „ + „ „ „ ब्रह्मवर्चसेन।

६— „ + „ „ „ अन्नाद्येन।

७—समेधय।

यहां अन्तिम वाक्य समेधय सर्वथा स्वतंत्र है जिसका अर्थ है कि—हे नाथ ! पूर्णरूप से मुझे समिधा के समान बना।

आपाततः देखने से प्रतीत होता है कि सम् उपसर्ग युक्त 'एधवृद्धौ' धातु का णिजन्त प्रयोग मध्यम पुरुष एक वचन का 'समेधय' रूप है। परन्तु 'अर्थनित्यः परीक्षेत' सिद्धान्त हमारा है अतः 'सम्' पद रहते हुए भी 'एधय' रूप तो समिधा अर्थ वाले एध प्रातिपदिक से नामधातु प्रयोग ही है। इस प्रकार रूप सिद्धि करने से व्याकरण के अनुसार भी कोई दोष नहीं आता।

(संस्कार विधि)

तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदि के पूर्व दिशा आदि चारों ओर छिड़कावे। इसके मन्त्र ये हैं—

ओम्—अदितेऽनुमन्यस्व ॥ *इस मन्त्र से पूर्व*

ओम्—अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥ *इससे पश्चिम*

ओम्—सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ *इससे उत्तर और*

(गोभिल गृ० प्र० १। खं० ३। सू० १-३)

आपस्तम्ब गृ० १।२।३।।

ओ३म्—देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥

(यजु० अ० ३० । मं० १)

इस मन्त्र से वेदि के चारों ओर जल छिड़कावे।

(सामान्यप्रकरण)

(जल छोड़ने का समय)

अग्न्याधान समिदाधान के पश्चात् पाँच घृताहुतियां देकर यज्ञ कुंड के चारों ओर की नाली में जल भरा जाता है। जल से नाली भर देने पर फिर कोई जन्तु यज्ञ के पास नहीं जा सकेगा। यह तो जल भरने का लाभ है। यदि यह जल यज्ञ के प्रारम्भ करने से पहले ही भर दिया जावे और बाद में अग्न्याधान आदि किया जावे तो जो जन्तु यज्ञ कुंड में कहीं अन्दर छिपा होगा वह भाग नहीं सकेगा।

(जल भरने का कारण)

१—एक कारण तो पूर्व बता दिया कि जीव जन्तु यज्ञाग्नि के पास न पहुंच पावें।

२—दूसरा कारण यह है कि यज्ञ की आहुतियां लगाने पर कुछ ऐसी गैसें भी पैदा होतीं हैं जिनका समीपस्थ जल में शान्त होना आवश्यक है।

३—तीसरा कारण यह है कि हमने अग्न्याधान के मन्त्र से यज्ञ को भूः भुवः स्वः का रूप दिया। अर्थात् तीनों लोकों का स्वरूप माना है। ब्रह्माण्ड में प्रकाश लोक अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक के बीच में जल का मार्ग है अतः यज्ञ कुण्ड में जलती हुई अग्नि को प्रकाश लोक मानो और जहाँ पृथिवी पर यजमान बैठा है उसे पृथिवी लोक मानो तब उन दोनों के मध्य में जल का मार्ग दिखाना आवश्यक है।

४—पृथिवी के अन्दर भी भौम अग्नि रहती है और पृथिवी के चारों ओर पानी भरा है अतः पृथिवी रूप यज्ञकुण्ड के गर्भ में भौम अग्नि के रूप में यज्ञाग्नि है और पृथिवी रूप यज्ञकुण्ड के चारों ओर जल दिखाना है।

(अदिति—अनुमति—सरस्वती)

अदिति=अखण्डता, अनुमति=अनुकूलाचरण, सरस्वती=ज्ञान। यज्ञ की सफलता तीन प्रकार से होती है=

१—यज्ञ को पूर्ण रूप से किया जावे। अधूरा छोड़ने में सफलता नहीं होती। 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति' पूर्णाहुति से सब कामनाएं सिद्ध होती हैं।

२—यज्ञ की इतिकर्तव्यता वेदानुकूल हो प्रभु के आदेश के विरुद्ध न हो। जैसी परमात्मा की आज्ञा है तदनुसार कर्म किया जावे।

३—जो यज्ञ हम करते हैं वह अच्छी प्रकार समझ लिया जावे। जो मन्त्र हम बोलते हैं और उस को बोलकर जो क्रिया हम करते हैं वह सब हम समझ सकते हों कि जो मन्त्र हम बोल रहे हैं उसमें क्या लिखा है जो क्रिया हम कर रहे हैं वह क्यों कर रहे हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि—

स य एवमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत् स्यात्।

छा० ५।२४।१॥

अर्थात्—जो मनुष्य बिना समझे यज्ञ करता है वह ऐसा है जैसे अग्नि को हटाकर भस्म में आहुतियां देना।

(दिशाक्रम)

जल छोड़ने की विधि इस प्रकार है कि—

अदितेऽनुमन्यस्वेति दक्षिणतः प्राचीनम् ।

अनुमतेऽनुमन्यस्वेति पश्चादुदीचीनम् ।

सरस्वत्यनुमन्यस्वेत्युत्तरतः प्राचीनम् ।

देव सवितः प्रसुवेति समन्तम् ।

आपस्तम्बगृ० १।२।३॥

अर्थात्—अदितेऽनुमन्यस्व = इससे दक्षिण से पूर्व की ओर ।

अनुमतेऽनुमन्यस्व = इससे पश्चिम से उत्तर की ओर ।

सरस्वत्यनुमन्यस्व = इससे उत्तर से पूर्व की ओर ।

देव सवितः प्रसुव० = इससे वेदी के चारों ओर ।

पूर्व और उत्तर दिशायें अग्नि प्रधान हैं। दक्षिण और पश्चिम दिशायें अग्नि प्रधान नहीं हैं। पूर्व और उत्तर में भी पूर्व दिशा प्रधानतया अग्नि प्रधान दिशा है। अग्नि-प्रधान दिशायें प्रकाश और ज्ञान की द्योतक हैं और अग्नि प्रधानता रहित दिशायें अज्ञान अन्धकार की द्योतक हैं। सूर्य भी जब दक्षिणायन में होता है तब

उसका वर्चः कम होजाता है और सूर्य जब पश्चिम में जाता है तब भी उसकी ज्योतिः कम हो जाती है। आहुति देने से हमें यह सिखाना है कि अन्धकार से प्रकाश की ओर चलो। नीचे दिये चित्र से इसको समझो—
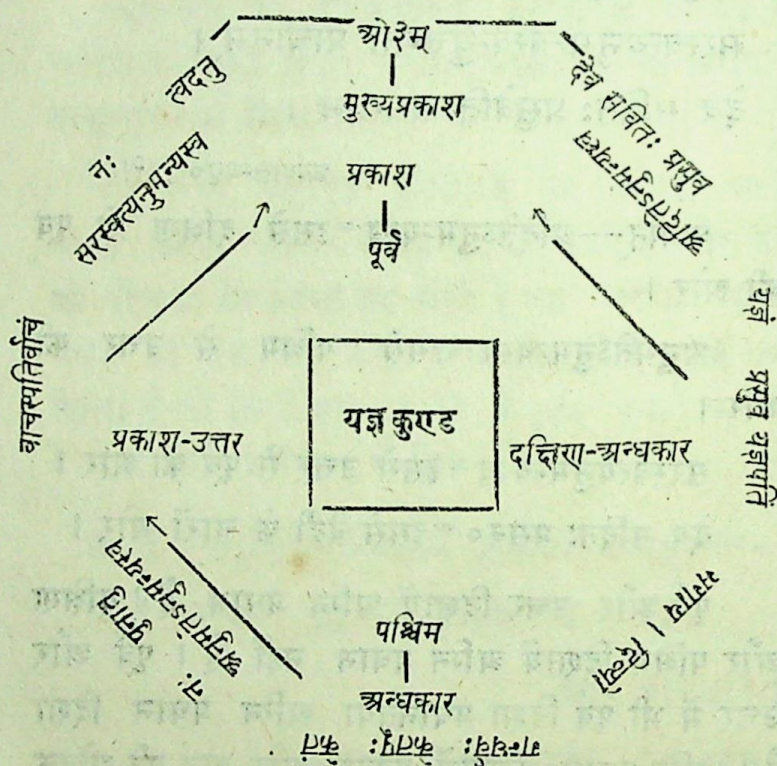
'अदितेऽनुमन्यस्व' बोलकर दक्षिण से पूर्व को जल छोड़ता हुआ अन्धकार से प्रकाश की ओर जा रहाहै।

'अनुमतेऽनुमन्यस्व' बोलकर पश्चिम से उत्तर को जल छोड़ता हुआ अन्धकार से प्रकाश की ओर जा रहा है।

'सरस्वत्यनुमन्यस्व' बोलकर उत्तर से पूर्व को जल छोड़ता हुआ प्रकाश से मुख्य प्रकाश की ओर जारहा है।

मुख्यप्रकाश वास्तव में ओ३म् है यह ध्यान में आते ही वेदी के चारों ओर मस्ती में आकर जल भरने लगता है कि वाह इस भौतिक जगत् में तो कोई दिशा अग्नि प्रधान है कोई नहीं पर मेरा प्रभु तो किसी भी दिशा में देखा जावे प्रकाश का ही भण्डार है। मैं तो अब चारों ओर जल भरूंगा। और 'देव सवितः' मन्त्र बोलकर चारों ओर जल भरता है।

प्रथम तीन ओर जल भरा गया चौथी ओर जल नहीं भरा गया क्योंकि चित्र को देखो तो पता चलेगा कि यदि चौथी बार जल भरा जायगा तो पश्चिम से दक्षिण की ओर का ही स्थान रिक्त है। यदि इधर भी जल भरा जायगा तो अन्धकार से अन्धकार की ओर को जाना होजायगा जो इष्ट नहीं है।

(देशादि भेद से इन स्थितियों में जो अन्तर पड़ता है वह शाखा विषय है। यह बहुत गम्भीर और विस्तार से विवेचनीय विषय है)

(दूसरा प्रकार)

यज्ञ की प्रक्रिया में कई भाव साथ साथ चलते हैं। भौतिक प्रकरण भी चल रहा और आध्यात्मिक प्रकरण भी। तीसरा प्रकरण यह भी है कि यजमान रूप मुख्य नेता प्रथम अपनी आहुति देकर समिधा रूप साथियों की आहुति देता है और उनसे कहता है कि—'दुवस्यत' = 'बोधयत' = 'जुहोतन जुहोतन' इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। (देखो पृष्ठ १४४-१४६) ऐसा मुख्य नेता जब उद्देश्य पूर्ति के निमित्त संसार के सामने आकर खड़ा होता है तब उसका तीन प्रकार के व्यक्तियों से पाला पड़ता है और उन तीनों प्रकार के संसार के प्राणियों का सहयोग लेना अनिवार्य होता है। जब वे तीनों प्रकार के व्यक्ति उस के साथ हो जाते हैं तब सब मिलकर प्रभु से उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। इस भाव की भी अभिव्यक्ति यज्ञ की पद्धति में विद्यमान है।

(तीन प्रकार के व्यक्ति)

१—अदिति=जिन पुरुषों का अदिति देवता है।

२—अनुमति=जिन पुरुषों का अनुमति देवता है।

३—सरस्वती=जिन पुरुषों का सरस्वती देवता है।

अदिति=अखण्डता। यह उनका देवता होता है जो किसी की सुनने को तैयार नहीं। बात कहने से आगे को भागते हैं। अनुमति=अनुकूल आचरण। यह उनका देवता होता है जो पीछे चलने को तैयार रहते हैं ऐसे व्यक्ति नेता के पश्चिम में खड़े रहते हैं अर्थात् पीछे खड़े रहने को सदा तैयार हैं। सरस्वती=ज्ञान। यह उनका देवता होता है जो अपनी समझ से काम लेते हैं ये व्यक्ति न तो बात कहने से पूर्व को आगे को भागते हैं और न आँख मूंद कर किसी के पीछे चलने को तैयार रहते हैं प्रत्युत ये लोग उत्तर की ओर बायें ओर खड़े रहते हैं। परन्तु जो व्यक्ति उस मुख्य नेता से भी अपने को अधिक समर्थ समझता है वह अधिक योग्य व्यक्ति इसका साथी नहीं बनेगा। यह अधिक योग्य व्यक्ति किसी के बायें ओर या पश्चिम ओर खड़े होने को तैयार नहीं वह अपने को उससे

असहमत करके ऐंठकर दक्षिण की ओर खड़ा होगा। ऐसा व्यक्ति साथी नहीं बन सकता। अतः दक्षिण की ओर जल नहीं भरा गया। वह तो इस प्रकार अपना पृथक् संसार बसायेगा जैसे म० गाँधी जी से पृथक् हटकर नेता जी सुभाषचन्द्र बोस ने अपना पृथक् संसार बनाया और वह भी भारतीय स्वतन्त्रता का प्रधान कारण बना।

जब ये तीनों प्रकार के व्यक्ति अपने अनुकूल हो जाते हैं तब सब मिलकर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे नाथ! हमारे लक्ष्य को पूरा कीजिये। हमारे यज्ञपति=नायक को शक्ति प्रदान कीजिये इत्यादि।

(अदिते) हे अखण्ड प्रभो! (अनुमन्यस्व) आज्ञा दो। (अनुमते) हे अपनी आज्ञा में चलाने वाले! (अनुमन्यस्व) आज्ञा दो। (सरस्वति) हे ज्ञान के भण्डार! (अनुमन्यस्व) आज्ञा दो। प्रभु के इन सब विशेषणों में परिकरांकुरालंकार है।

(पदच्छेद)

देव। सवितः। प्र। सुव। यज्ञम्। प्र। सुव। यज्ञपतिम्। भगाय। दिव्यः। गन्धर्वः। केतपूः। केतम्। नः। पुनातु। वाचस्पतिः। वाचम्। नः। स्वदतु।

अर्थ--(सवितः) हे सब को कर्मों में प्रवृत्त करने वाले (देव) प्रभो ! (यज्ञम्) यज्ञ को (प्र+सुव) बढ़ाइए। (यज्ञपतिम्) यज्ञ के रक्षक यजमान को (प्र+सुव) बढ़ाइए।

(दिव्यः) शुद्धस्वरूप (गन्धर्वः) वेद वाणी को धारण करने वाला (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला परमात्मा (केतम्) ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करे।

(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी परमात्मा (नः) हमारी (वाचम्) वाणी को (स्वदतु) मीठा बनावें।

(संस्कार विधि)

इस के पश्चात् सामान्य होमाहुति गर्भाधानादि प्रधान संस्कारों में अवश्य करे। इस में मुख्य होम के आदि और अन्त में जो आहुति दी जाती है उनमें से यज्ञ कुण्ड के उत्तर भाग में जो एक आहुति और यज्ञकुण्ड के दक्षिण भाग में दूसरी आहुति देनी होती है उसका नाम आघारावाज्याहुती कहते हैं। और जो कुण्ड के मध्य में आहुतियां दी जाती हैं उनको आज्यभागाहुती कहते हैं। सो घृतपात्र में से स्रुवा को भर अंगूठा मध्यमा अनामिका से स्रुवा को पकड़ के—

ओम्——अग्नये स्वाहा । इदमग्नये इदं न मम ॥

इस मन्त्र से वेदि के उत्तर अग्नि भाग में,

ओम्——सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय इदं न मम ॥

(गो० गृ० प्र० १। खं० ८। सू० ३, ४ ।

इस मन्त्र से वेदि के दक्षिणभाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी, तत्पश्चात्

ओम्——प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये इदं न मम ॥

ओम्-इन्द्राय स्वाहा । इदमिन्द्राय इदं न मम ॥

इन दो मन्त्रों से वेदि के मध्य में दो आहुति देना ।

(सामान्यप्रकरण)

(दिशाक्रम)

प्रकाश देने वाली प्रधानतया चार वस्तुएं संसार में हैं=अग्नि—सोम—प्रजापति—इन्द्र । अग्नि तत्व उत्तर में और सोम दक्षिण में है अतः उत्तरायण में सूर्य अधिक प्रचण्ड और दक्षिणायन में अल्पताप वाला होता है। प्रजापति अर्थात् सूर्य और इन्द्र अर्थात् विद्युत् के लिये कोई दिशा निर्दिष्ट नहीं की जासकती अतः यज्ञ कुण्ड के मध्य में आहुति देते हैं ।

(अग्नये) अग्नि की पूर्णता के लिये (स्वाहा) यह आहुति है (इदम्) यह कर्म (अग्नये) अग्नि के लिये है (इदम्) यह (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(सोमाय) चन्द्र की पूर्णता के लिये (स्वाहा) यह आहुति है (इदम्) यह कर्म (सोमाय) चन्द्र के लिये है (इदम्) यह (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(प्रजापतये) सूर्य की पूर्णता के लिये (स्वाहा) यह आहुति है (इदम्) यह कर्म (प्रजापतये) सूर्य के लिये है (इदम्) यह (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(इन्द्राय) विद्युत् की पूर्णता के लिये (स्वाहा) यह आहुति है (इदम्) यह कर्म (इन्द्राय) विद्युत् के लिये है (इदम्) यह (मम) मेरा (न) नहीं। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(अन्ये त्वाहुः)

१—अग्नि अर्थात् प्रकाश ज्ञान से होता है और ज्ञान मस्तिष्क में रहता है यह उत्तरस्थान है अतः नाम करणसंस्कार में बच्चे के शिर को उत्तर में करते हैं।

२—सोम अर्थात् शान्ति मिलती है त्याग से, त्याग का स्थान हृदय है यह हृदय मस्तिष्क से दक्षिण में है।

३—प्रजापति अर्थात् पालन पोषण कर्तृत्व रस में हैं और प्रत्येक वस्तु का रस उस वस्तु के मध्य में रहता है।

४—इन्द्र अर्थात् चमक और तेज अग्नि और ज्ञानी के अन्दर रहता है।

(अपरे ब्रुवन्ति)

प्रजापति=पालनपोषण करने वाला गृहस्थ बाहर से सामान लाकर घर के मध्य में डालता है।

इन्द्र—राजा राष्ट्र का केन्द्र है अतः ये दोनों आहुतियां मध्य में डाली जाती है। इत्यादि विचार लोगों ने प्रकट किये हैं। यह विषय अभी विशेष मीमांसा के योग्य है।

"संस्कार विधिस्थ सामान्य प्रकरण"

संस्कारविधि के सामान्य प्रकरण में आघारावाज्यभागाहुति के आगे व्याहृति, स्विष्ट कृत् आदि अन्य भी आहुतियाँ लिखी है परन्तु नित्ययज्ञ के सम्बन्ध में संस्कार विधि के गृहस्थाश्रम प्रकरण में स्वामी जी का लेख इस प्रकार है—

(संस्कार विधि)

आघारावाज्यभागाहुति चार देके नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्रातः काल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

अब नीचे लिखे हुए मन्त्र सायंकाल के अग्निहोत्र के जानो—

ओम्—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

ओम्—अग्निवर्चोज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥२॥

ओम्—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

इस मन्त्र को मन में उच्चारण करके तीसरी आहुति देनी।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥

(यजु० अ० ३। मं० ६, १०)

(गृहाश्रम प्रकरण)

(मन्त्रों के खण्ड)

यजुर्वेद के तीसरे अध्याय का नवां और दशवां मन्त्र इस प्रकार है—

(९)

ओ३म्—अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा। (खण्ड १)
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। (खण्ड २)
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चःस्वाहा। (खण्ड ३)
सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा। (खण्ड ४)
ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा। (खण्ड ५)

(१०)

ओ३म्—सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो
अग्निर्वेतु स्वाहा। (खण्ड ६)
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः
सूर्यो वेतु स्वाहा। (खण्ड ७)

इन दोनों मन्त्रों के सात खण्ड किये जा सकते हैं। स्वामी जी ने चार आहुतियाँ प्रातः काल की रखी हैं और चार आहुतियां सायंकाल की निश्चित की हैं। परन्तु मन्त्रों में आठ खण्ड नहीं है प्रत्युत सात ही खण्ड बनते हैं अतः प्रथम खण्ड की आवृति ऋषि ने की है।

प्रातः काल की आहुतियों में खण्ड २, ४, ५, ७ ये चार खण्ड रखे हैं और सायंकाल की आहुतियों में खण्ड १, ३, १, ६ ये चार खण्ड रखे हैं अर्थात् खण्ड एक को दो वार रखा है। अपनी ओर से जो खण्ड दुवारा रखा है उसकी मौन आहुति दिलाई है।

जिन खण्डों में रात्रि का वर्णन है वे सब खण्ड सायंकाल की आहुतियों में रखे हैं और जिन खण्डों में दिन का वर्णन है वे सब खण्ड प्रातः काल की आहुतियों में रखे हैं जैसे कि संस्कार विधि के उद्धरण में आहुति मन्त्र पूर्व दिखाये हैं। उन मन्त्रों के अर्थ नीचे लिखे जाते हैं—

(प्रातः सवन का वर्णन)

(सूर्यः) सूर्य (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप है। (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप इस समय (सूर्यः) सूर्य होरहा है (स्वाहा) इस के ज्ञान के लिये यह आहुति दी जाती है।

(मध्याह्न सवन का वर्णन)

(सूर्यः) सूर्य (वर्चः) तेजःस्वरूप भी है। (ज्योतिः) प्रकाश और (वर्चः) तेज दोनों इस

समय हैं (स्वाहा) इस के ज्ञान के लिये यह आहुति दी जाती है।

(तृतीय सवन का वर्णन)

(ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप होता हुआ (सूर्यः) सूर्य जायेगा और (सूर्यः) फिर सूर्य उदय होकर (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप होगा। (स्वाहा) इस के ज्ञान के लिये यह आहुति दी जाती है।

(प्रातः काल के अग्निहोत्र का समय)

(सवित्रा) सब जगत् को उत्पन्न करने वाले (देवेन) परमात्मा के (सजूः) साथ वर्तमान अर्थात् उस प्रभु की सत्ता से चलने वाला (सूर्यः) सूर्य (इन्द्रवत्या) प्रकाश युक्त (उषसा) उषाकाल के (सजूः) साथ वर्तमान होकर (वेतु) चमके (स्वाहा) तब प्रातः काल अग्निहोत्र का समय है इसके ज्ञान के लिये यह आहुति है।

(रात्रि का वर्णन)

रात्रि में प्रातः सवन आदि विभाग इस रूप में नहीं हो सकते। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश और तेज के भिन्न-भिन्न परिवर्तन दिन में होते हैं इस प्रकार अग्नि के नहीं।

हाँ अग्नि में भी सूर्य के समान प्रकाश और ताप देने का गुण है। उन दोनों बातों का वर्णन दो खण्डों में किया है—

(अग्निः) आग (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप है। (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप इस समय (अग्निः) अग्नि होरहा है। (स्वाहा) इसके ज्ञान के लिये यह आहुति है।

(अग्निः) आग (वर्चः) तेजः स्वरूप भी है। (ज्योतिः) प्रकाश और (वर्चः) तेज दोनों इस समय विद्यमान हैं (स्वाहा) इसके ज्ञान के लिये यह आहुति है।

(अग्निः) संकल्पाग्नि भी (ज्योतिः) प्रकाश-स्वरूप है (ज्योतिः) प्रकाश स्वरूप (अग्निः) संकल्पाग्नि होती रहे (स्वाहा) इसके ज्ञान के लिये यह आहुति है।

मौन आहुति और
+
(प्रथम खण्ड की आवृत्ति क्यों)

महर्षि ने अपनी निर्मित यज्ञपद्धति में 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इसको दो वार लिखा है परन्तु यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में यह एक ही वार है।

इसका कारण यह है कि ऋषि ने जिस पद्धति का निर्माण किया है उसमें अनेकों भावों का संकलन है। वह केवल आधिदैविक नहीं है। इस पद्धति में तो जो कुछ बाहर होरहा है वह सब कुछ मनुष्य के अन्दर भी होता दिखाया गया है। अग्नि बाहर ही प्रदीप्त नहीं होरही है प्रत्युत अन्दर भी संकल्पाग्नि प्रदीप्त की जारही है। बाहर घृत शाकल्य की आहुतियाँ कुण्ड में पड़ रही हैं और अन्दर विचारों की और भावों की आहुतियाँ पड़ रही है। प्रातः काल मनुष्य उठकर सूर्य को लक्ष्य बनाता है। जिस प्रकार सूर्य निरन्तर तेजस्वी होता चला जाता है इस प्रकार वह यजमान दिन भर इतना परिश्रम करता है कि उस की संकल्पाग्नि सूर्य अवस्था तक पहुँच सके अतः सूर्य की आहुतियाँ देता है। और रात में भी यह संकल्पाग्नि बुझने न पावे अग्नि की अवस्था तक तो रहे अतः सायंकाल को अग्नि की आहुतियाँ देता है। यहां तक अपने विचार की दृढ़ता रखे कि सोते हुए भी वह संकल्पाग्नि जलती रहे ऐसा पागल अपने संकल्प की दृढ़ता में सदा रहे अतः इस भाव को जागृत रखने के लिये दुबारा 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' है इस मन्त्र की आवृत्ति मौन आहुति के लिये की है। मौन का अभिप्राय है कि यह

आहुति उस समय के लिये है जब कि मनुष्य सो जायगा सोते समय भी वह भाव हृदय से न जावे अतः मौन होकर आहुति दो। पहले जो 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' की आहुति दी है वह तो इसलिये कि सायंकाल के समय रात में भी संकल्पाग्नि को सूर्य की अवस्था तक पहुंचाने का प्रयत्न न भी कर सको तब भी अग्नि की अवस्था तक रखने का यत्न अवश्य करो। और आवृत्ति करके जो दुबारा उसी मन्त्र से आहुति दी है वह इसलिये कि सोते पर भी संकल्पाग्नि जागृत रहे। इस प्रकार ऋषि निर्मित पद्धति की सर्वाङ्गपूर्णता होती है।

(सायंकाल के अग्नि होत्र का समय)

(सवित्रा) सब जगत् को उत्पन्न करने वाले (देवेन) परमात्मा के (सजूः) साथ वर्तमान अर्थात् उस प्रभु की सत्ता से चलने वाला (अग्निः) आग (इन्द्रवत्या) प्रकाश युक्त (रात्र्या) रात्रि के (सजूः) साथ वर्तमान होकर (वेतु) चमक युक्त होवे (स्वाहा) तब सायंकाल के अग्निहोत्र का समय है। इसके ज्ञान के लिये यह आहुति है। सूर्य की उपस्थिति में अग्नि चमक रहित दीखता है। प्रकाशयुक्त रात्रि का समय वह है जब रात आरही हो और सूर्य अस्त न हुआ हो।

यह यज्ञकाल का पक्ष श्री स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि—

'सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र करने का समय है'।

(तृ० समुल्लास)

कुछ ऋषि ऐसा समझते हैं कि—

(इन्द्रवत्या) चन्द्र नक्षत्रादियुक्त (राज्या) रात्रि के (सजूः) साथ वर्तमान (अग्निः) आग (वेतु) चमके तब यज्ञ का सायंकाल का समय है। इस प्रकार सूर्यास्त के पश्चात् अग्निहोत्र होगा। सन्ध्या प्रथम करनी होगी जो नक्षत्र दर्शन तक सायंकाल सन्ध्या का समय है उसके पश्चात् यज्ञ होगा। यह पक्ष स्वामी जी ने पञ्च महायज्ञ विधि में लिखा है कि—

"एवं प्रातः सायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाग्रे यावदिच्छा तावद् गायत्रीमन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात्।"

अर्थात्—इस प्रकार प्रातः और सायंकाल सन्ध्योपसान के पीछे इन पूर्वोक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की जहां तक इच्छा हो वहां तक स्वाहा अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करें।

ऊपर लिखे मन्त्रों के तथा अगले मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ पञ्च महायज्ञविधि में देखो ।

(संस्कार विधि)

अब निम्नलिखित मन्त्रों से प्रातः सायं आहुति देनी चाहियें:—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा । इदमग्नये प्राणाय इदं न मम ॥१॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा । इदं वायवेऽपानाय इदं न मम ॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा । इदमादित्याय व्यानाय इदं न मम ॥३॥

ओं भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यःप्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा' इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापान-व्यानेभ्यः इदं न मम ॥४॥

ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म, भूर्भुवः स्वरोम्, स्वाहा ॥५॥

(गृहाश्रम प्रकरण)

उपरिलिखित मन्त्र कहां के हैं इस सम्बन्ध में स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है कि—

'सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकत्रीकृताः'

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पञ्चयज्ञप्रकरण)

अब हम पाठकों के समक्ष तैत्तिरीयोपनिषत् का वह प्रकरण रखते हैं जहाँ से ये आहुतियां संकलित की गई हैं।

(तैत्तिरीयोपनिषत्)

"भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो महाव्याहृतयः।"

तीन महाव्याहृति हैं=भूः-भुवः-स्वः।

"तासामु ह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्यः प्रवेदयते मह इति।"

इन में चतुर्थी महाव्याहृति को माहाचमस्य ऋषि जानता है वह है=महः।

"तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः।"

यह महः ब्रह्म है जो व्यापक है। अन्य देवता गौण रूप से हैं।

"भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।"

भूः-पृथ्वीलोक है। भुवः-अन्तरिक्ष लोक है। स्वः-द्युलोक है।

"मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ।"

महः—आदित्य है । आदित्य से निश्चय करके सब लोक महिमा को प्राप्त होते हैं ।

"भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः ।"

भूः—अग्नि है । भुवः—वायु है । स्वः—सूर्य है ।

"मह इति चन्द्रमा चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते ।"

महः—चन्द्रमा है । चन्द्रमा से निश्चय करके सब ज्योति महिमा को प्राप्त होती हैं ।

"भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूंषि ।"

भूः—ऋक् है । भुवः—साम है । स्वः—यजुः है ।

"मह इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते ।"

महः—ब्रह्म है । ब्रह्म से निश्चय करके सब वेद महिमा को प्राप्त होते हैं ।

"भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः ।"

भूः-प्राण है । भुवः-अपान है । स्वः-व्यान है ।

"मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते ।"

महः-अन्न है । अन्न से निश्चय करके सब प्राण महिमा को प्राप्त होते हैं ।

"ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः ।"

ये चारों महाव्याहृतियां प्रत्येक चार चार प्रकार की है ।

"ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ।"

इन सोलह प्रकारों को जो जानता है । वह ब्रह्म को जानता है ।

इस जानने वाले के लिये सब विद्वान् उपहार चढ़ाते हैं ॥

(इति शिक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः)

तैतिरीयोपनिषत् का उपरिलिखित विस्तृत वर्णन नीचे दिये कोष्ठक द्वारा संक्षेप में और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

(कोष्ठक देखो)

संख्या	महाव्याहृति	ब्रह्माण्ड	पिण्ड	लोक	वेद
१	भूः	अग्नि	प्राण	पृथिवीलोक	ऋक्
२	भुवः	वायु	अपान	अन्तरिक्षलोक	यजुः
३	स्वः	आदित्य	व्यान	द्युलोक	साम
४	महः = आत्मा — आपः	चन्द्रमा — रसः	अन्न — अमृत	आदित्य — ज्योतिः	ब्रह्म

१—भूः, अग्नि, प्राण, से='भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आहुति बनती है।

२—भुवः, वायु, अपान, से='भुववार्यवेऽपानाय स्वाहा' आहुति बनती है।

३—स्वः, आदित्य, व्यान से='स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा' आहुति बनती है।

४—और तीनों के संग्रह से='भूर्भुवःस्वरग्नि-वाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा' आहुति बनती है।

५—चौथी महाव्याहृति महः है। यह भौतिक पदार्थ नहीं है क्योंकि इसके सम्बन्ध में लिखा है कि यह आत्मा है, ब्रह्म है। अतः इसके कोष्ठक में जितने शब्द हैं उनकी ब्रह्म परक अध्यात्म-व्याख्या करनी होगी। अन्य भू आदि तीन महाव्याहृति भौतिक भी वर्णन की जासकती है क्योंकि उनको लिखा है कि 'अङ्गान्यन्या देवताः' अन्य देव गौण रूप से हैं। परन्तु इन तीनों को भी ब्रह्मपरक कर सकते हैं। इस अभिप्राय से भी संग्रहपरक तृतीयाहुति हो सकती है क्योंकि ये सब नाम ईश्वर के भी हैं।

चौथी महाव्याहृति में पांच शब्द विचार करने के योग्य है—

महः + आदित्य + चन्द्रमाः + अन्न + ब्रह्म ।

१—महः को आत्मा लिखा है। आत्मा शब्द आप्लृ धातु से बनता है जिसका अर्थ व्यापक होता ऐसी स्थिति में आत्मा शब्द 'आपः' के अर्थ में है अर्थात् व्यापक।

"आत्माऽतते वा। आप्तेर्वा' निरु० ३।१५॥

२—चौथी व्याहृति को 'आदित्य' लिखा है इसका अध्यात्म अर्थ 'ज्योतिः' होगा क्योंकि आदित्य सूर्य भी होता है आध्यात्मिक जगत् का सूर्य वही ब्रह्म ज्योतिषां ज्योतिः है।

३—इस चौथी महाव्याहृति को चन्द्रमा लिखा है। यह चन्द्रमा रसों का आधार है। अध्यात्म जगत् में ब्रह्म का आनन्द रूप रस अर्थ होगा।

४—चौथी व्याहृति को 'अन्न' भी कहा है। अन्न जीवन का आधार है इसको खाकर मनुष्य मौत से बचता है अतः आध्यात्मिक अर्थ में अन्न से अमृत रूप ब्रह्म को लेना चाहिये।

५—चौथी व्याहृति को ब्रह्म फिर स्पष्ट लिखा ही है सब को मिलाकर बन जाता है-आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म । ब्रह्म शब्द अथर्ववेद का भी वाचक है ।

महः--आदित्य--चन्द्रमा--अन्न--ब्रह्म ।

\+ + + + +

आपो--ज्योती--रसो--ऽमृतम् = ब्रह्म ।

तैत्तिरीयारण्यक १०।१५।१।। भी देखो जहाँ यह अन्तिम मन्त्र हैं ।

यह अन्तिम मन्त्र तो कर्मप्रदीप आदि अनेक ग्रन्थों में विद्यमान है पूर्ण सब के पते वैदिक कंकार्डेंस में देखो । 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि चार मन्त्र तो ऋषि दयानन्द ने स्वयं तैतिरीयोपनिषंत से संकालित किये हैं ऐसा प्रतीत होता है जैसा पूर्व कोष्ठक आदि द्वारा दिखा दिया है ।

इनकी यौगिक व्याख्या को भी नीचे लिखे प्रकार समझो –

(महः)

इसकी व्याख्या में देवराज यज्वा लिखता है—

"महः" महदित्यनेन समानम् । अत्रासुन् प्रत्ययः" ।

'मानेन स्वगतेन परिमाणेन अन्यान् स्वस्मादून-प्रमाणान् पदार्थान् जहाति अतिक्रामति' (१-१२)

अर्थात्---महः शब्द महत् शब्द के समान है केवल प्रत्यय भेद है। महत् का एक अर्थ यह भी है कि अपने परिमाण से अन्य परिमाण वालों को अतिक्रमण करता है अर्थात् बड़े परिमाण वाला। सब से बड़े परिमाण वाला का अर्थ व्यापक ही हो सकता है अतः इस के स्थान पर सरल शब्द 'आपः' रखा गया।

(आदित्यः)

इस शब्द की व्याख्या में निरुक्तकार लिखता है—

'आदित्यः कस्मात्-आदत्ते भासं ज्योतिषाम्'

(२-१३)

अर्थात्—ज्योतियों की कान्ति को तिरस्कृत करने वाला। इस अर्थ के अनुसार ज्योतियों की ज्योतिः ब्रह्म ही लिया जायेगा अतः 'ज्योतिः' शब्द रखा है।

(चन्द्रमाः)

(चन्द्रे मो डिच्च) उणा० ४। २२८

चन्द्रमानन्दं मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः (दयानन्द उणादिभाष्ये)

चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः (निरुक्त ११-५)

इत्यादि प्रमाणों से चन्द्र और चन्द्रमाः शब्द आनन्द अर्थवाचक हैं। आनन्द ब्रह्म है। आनन्द का

वाचक शब्द ऋषि ने 'रस' रखा है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि रूप से वर्णन भी मिलता है।

(अन्नम्)

इस शब्द के निर्वचन में देवराजयज्वा लिखता है—

'अन्नम्' अन प्राणने..............अन्यते प्राण्यते प्रजाभिः' (१-१२)

अर्थात्—अन प्राणने धातु से भी अन्न शब्द बनता है जिसका अर्थ है–जिसको पाकर मनुष्य जीवित रहता है मरता नहीं है। इसी भाव को लेकर ऋषि ने अमृत शब्द रखा है।

(आपो-ज्योती-रसो-ऽमृतं का क्रम)

ये चारों शब्द ब्रह्म के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर क्रम से रखे गये हैं। जिज्ञासु ब्रह्म को जानना चाहता है उसको उपदेश प्रथम 'आपः' शब्द से किया गया अर्थात् वह ब्रह्म 'सर्व व्यापक' है, सर्वत्र रहता है।

पर जिज्ञासु पूछता है कि कोई वस्तु सब जगह मिलती है ऐसा कहने से वह वस्तु ढूंढी नहीं जासकती अतः जिज्ञासु को यह उपदेश किया गया कि 'ज्योतिः' अर्थात् वह ब्रह्म ज्योति स्वरूप है।

फिर जिज्ञासु पूछता है ज्योतिः तो सूर्य आदि भी हैं क्या ये ही ब्रह्म हैं। तब उसको उपदेश किया गया कि 'रस' अर्थात् वह ज्योति ब्रह्म है जिसको पाकर रस अर्थात् आनन्द प्राप्त हो।

फिर जिज्ञासु पूछता है कि आनन्द तो धन पुत्र आदि की प्राप्ति में भी प्राप्त होजाता है क्या ये ही ब्रह्म हैं तब उसको उपदेश किया जाता है कि धन पुत्र आदि आनन्द नहीं है। यह साधारण सांसारिक सुख है। आनन्द वह है जिसको पाकर अमर हो जावे अतः यह समझ कि वह आनन्द रूप प्रभु अमृतम् है।

इस प्रकार आपो+ज्योती+रसो+ऽमृतम् द्वारा ब्रह्म को समझाया। अतः यह समझना चाहिये कि तैत्तिरीय उपनिषद् की चतुर्थ महाव्याहृति के सम्बन्ध में जो महः+आदित्य+चन्द्रमाः+अन्नम् शब्द आये हैं उनकी आध्यात्मिक व्याख्या ही करनी चाहिये। इसमें ब्रह्म विशेष्य है और आपः, ज्योति, रसः, अमृतम् ये चारों विशेषण हैं जैसा देवपाल भी कहता है—

तत्र ब्रह्मेति विशेष्यपदम्। आप इत्यादीनि चत्वारि विशेषणपदानि॥

(काठकगृह्यभाष्ये देवपालः)

अर्थ-(भूः) भू के द्वारा (अग्नये) ब्रह्माण्ड में अग्नि के लिये और (प्राणाय) पिण्ड में प्राण के लिये (स्वाहा) यह आहुति हैं। (इदम्) यह आहुति प्रदान (अग्नये) अग्नि के लिये और (प्राणाय) प्राण के लिये है (इदम्) यह आहुति प्रदान (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(भुवः) भुवः के द्वारा (वायवे) ब्रह्माण्ड में वायु के लिये और (अपानाय) पिण्ड में अपान के लिये (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह आहुति प्रदान (वायवे) वायु के लिये और (अपानाय) अपान के लिये है। (इदम्) यह आहुति प्रदान (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(स्वः) स्वः के द्वारा (आदित्याय) ब्रह्माण्ड में सूर्य के लिये और और (व्यानाय) पिण्ड में व्यान के लिये (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह आहुति प्रदान (आदित्याय) सूर्य के लिये और (व्यानाय) व्यान के लिये है। (इदम्) यह आहुति प्रदान (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(भूर्भुवः स्वः) भू भुवः स्वः के द्वारा (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु, सूर्य और (प्राणापानव्यानेभ्यः) प्राण, अपान और व्यान के क्रमशः समानरूप से अध्ययन के लिये (स्वाहा) यह आहुति है। (इदम्) यह आहुति प्रदान (अग्निवाय्वादित्येभ्यः) अग्नि, वायु, आदित्य और तदनुकूल (प्राणापानव्यानेभ्यः) प्राण अपान, व्यान के लिये है। (इदम्) यह आहुति प्रदान (मम) मेरा (न) नहीं है। अर्थात् इसमें फल की कामना मैं नहीं करता।

(आपः) सर्व व्यापक (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप (रसः) आनन्दरूप (अमृतम्) अमृतरूप (ब्रह्म) ब्रह्म का और (भूर्भुवः स्वः) तीनों लोकों का वर्णन (ओम्) समाप्त कर दिया गया। ये दोनों आध्यात्मिक और आधिदैविक प्रकरण तथा 'अयं त इध्म' आदि मन्त्रों में व्याख्यात अर्थात् अभिव्यक्त आधिभौतिक प्रकरण इस पद्धति में जानो। मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ पञ्चमहायज्ञविधि आदि में विस्तार से लिखे हैं।

इति

श्री १०८ महर्षि दयानन्दसरस्वतीसंकलितायाम्,

आचार्य विश्वश्रवसा व्याख्यातायाम्,

यज्ञपद्धतौ तृतीयं प्रकरणं

समाप्तम्।

(अथ चतुर्थं प्रकरणम्)

उपसंहार—

'यां मेधां' से लेकर समाप्ति तक

सारा ज्ञान विज्ञान यज्ञ की पद्धति द्वारा सीख लिया। इसका पाठ नित्य ही सायं प्रातः यज्ञ करके कर लेना चाहिये। यह अलौकिक ज्ञान ऋषियों द्वारा प्राप्त हुआ है। इसको भुलाना नहीं। अतः उपर्युक्त सब कर्म करके परमात्मा से मेधा बुद्धि की प्रार्थना करनी चाहिये कि जो कुछ हमने सीखा है उसे कहीं भुला न बैठें। मेधा वह बुद्धि है जो बात को याद रखती है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के द्वारा गायत्री मन्त्र से जिस बुद्धि की प्रार्थना की जाती है वह बुद्धि अन्य प्रकार की है। जिस बुद्धि के द्वारा हम आगे काम करेंगे वह बुद्धि गायत्री मन्त्र से मांगी गई है। मेधा तो वह बुद्धि है जो सीखी हुई बात को याद रखती है। ज्ञान विज्ञान को सिखाने वाली पद्धति का पाठ करके, मेधा की प्रार्थना करके आहुति देना कितना सुसंगत है। अतः 'यां मेधां देवगणाः०' मन्त्र की आहुति ऋषि ने ठीक स्थान पर रखी है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(संस्कार विधि)

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥६॥
यजु० ३२ । १४ ॥ (गृहाश्रम प्रकरण)

अर्थ—(अग्ने) हे ज्ञान के प्रकाशक ईश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) मेधा बुद्धि को (देवगणाः) विद्वानों के समूह (च) और (पितरः) विज्ञानवेत्ता लोग (उप) प्राप्त करके (आसते) सेवन करते हैं। (अद्य) आज (तया) उस (मेधया) मेधा बुद्धि से (माम्) मुझको (मेधाविनम्) मेधावी (कुरु) बनाइये (स्वाहा) यह मैं सत्यवाणी से प्रार्थना करता हूँ ॥ ६ ॥

ऋषि की पद्धति में जो मन्त्र जिस स्थान पर रखा गया है वह स्थान उस मन्त्र का विचार पूर्वक निश्चित किया गया है। कोई भी मन्त्र बोलकर आहुति देली यह नहीं समझना चाहिये। यह यज्ञ की पद्धति ऋषि की अलौकिक बुद्धि का चमत्कार है जिस पद्धति में न कुछ छोड़ा जा सकता है न बदला जा सकता है।

अब यज्ञ को समाप्त करके उठना है परन्तु यह विचार कर लेना चाहिये कि इस पद्धति में हमने चाहे कुछ सीखा हो, एक बात सीखी हो चाहे अनेकों बातें

सीखी हों। सब में मुख्यता हमारी दृष्टि में प्रभु के वर्णन में है। जैसे उत्तम व्याख्यान प्रवचन के पश्चात् यदि सुन्दर भी गाना करा दिया जावे तो भी उत्तम व्याख्यान जनता को भूल जाता है। इसी प्रकार इस यज्ञ की पद्धति में जितनी भी बातें हैं उनमें वह सुन्दर भाव फिर अन्त में एक बार स्मरण करलें जो 'विश्वानि देव०' से लेकर 'अग्ने नय सुपथा०' तक वर्णन किया गया है और उसी भाव को लिए हुए हम यज्ञशाला से उठें। अतः उस प्रकरण के आदि और अन्त के मन्त्र को बोलकर आहुति देलो—

(संस्कार विधि)

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव। स्वाहा॥ ७॥

(यजु० ३०। ३॥)

ओम्-अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम। स्वाहा॥ ८॥

(यजु० ४०। १६॥)

इन आठ मन्त्रों से एक २ मन्त्र करके एक २ आहुति ऐसे आठ आहुति देके—

ओं सर्वं वै पूर्णं छं स्वाहा ॥

इस मन्त्र से तीन पूर्णाहुति अर्थात् एक २ वार पढ़के एक २ करके तीन आहुति देवे ।

❀ इत्यग्निहोत्रविधिः संक्षेपतः समाप्तः ❀

(गृहाश्रम प्रकरणम्)

(पूर्णाहुति तीन अथवा एक)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में तथा पञ्चमहायज्ञ विधि में जो यज्ञ की पद्धति लिखी है उसमें अन्त में पूर्णाहुति एक ही लिखी है और संस्कार विधि के गृहाश्रम में जो यज्ञ की पद्धति लिखी है उसमें पूर्णाहुतियां तीन बताई गई हैं। इस पर विचार करना चाहिये। कुछ लोग यह कहकर छोड़ देते हैं कि पञ्चमहायज्ञ विधि में भूल से एक बार आहुति लिखी है। कोई कह देता है कि एक से अभिप्राय तीन का ही है। परन्तु यह सब विचार वस्तुस्थिति को न जानने के कारण हैं।

वास्तव में तीन पूर्णाहुतियां इसलिये हैं कि चाहे यह पद्धति भी संक्षिप्त है परन्तु संक्षेप से इसमें सब विषयों का समावेश है अतः आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीनों विषयों की समाप्ति तीन पूर्णाहुतियों द्वारा दर्शाई गई है।

इसके अतिरिक्त जिस पद्धति में प्रभु की उपासना अग्न्याधान आदि कुछ नहीं है। 'सूर्यो ज्योतिः०' आदि आहुतियां दिग्दर्शनमात्र हैं वहां तीन पूर्णाहुतियां किस बात की हों। अतः पञ्चमहायज्ञविधि में एक बार पूर्णाहुति विचार कर रखी गई है भूल से नहीं।

(संक्षेपतः समाप्तः)

ऋषि ने लिखा है कि यह पद्धति संक्षेप से संकलित की है। अतः इसमें सृष्टि विज्ञान का विषय भी संक्षेप में ही है। बड़ी बड़ी पद्धतिया प्राचीन आर्षग्रन्थों में लिखी हैं जिनके द्वारा समस्त सृष्टि की रचना का ज्ञान यज्ञ की वेदी पर हो जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि के अन्दर जिन ग्रह उपग्रह आदि की स्थिति आज जिस प्रकार है ऐसी सदा से नहीं थी इनमें तो परिवर्तन होता रहता है जैसा कि लिखा है कि—

(वृद्ध गर्ग)

कलिद्वापरसन्धौ तु स्थितास्ते पितृदेवतम् ।

अर्थात्—कलि द्वापर की सन्धि में सप्तर्षि मघा नक्षत्र में थे।

अस्मिन् कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः ।
विना तु पातमन्दोच्चान् मेषादौ तुल्यतामिताः ॥

अर्थात्—सत्ययुग के अन्त अर्थात् त्रेता के आदि में पात और मन्दोच्च को छोड़कर सब ग्रहों का मध्यस्थान मेष राशि में था।

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एक राशौ समेष्यन्ति प्रवर्त्स्यन्ति तदा कृतम्॥

अर्थात्—जब चन्द्र सूर्य तिष्य और बृहस्पति एक राशि में आवेंगे तब सत्ययुग प्रारम्भ होगा।

सूर्य सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्णन आते हैं। इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि सृष्टि के पदार्थों की स्थिति देश काल भेद से भिन्न अवश्य होती है अतः याज्ञिक पद्धतियों में भी तद्वेत्ताओं द्वारा परिवर्तन अनिवार्य है। क्या इसी प्रकार के तथा अन्य आधारों पर परिवर्तन होकर शाखाभेद की पद्धतियां बनी हैं यह विषय अति विस्तार से विवेचनीय है। अन्यथा याज्ञिक पद्धतियां विवादमात्र हो जायेंगी जिसकी हम आशा नहीं कर सकते। इन सबका संकलन द्वापर के अन्त में व्यास द्वारा हुआ।

(१६ आहुतियां कौन सी हैं)

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—

(प्रश्न) प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक एक आहुति का कितना परिमाण है। (उत्तर) प्रत्येक मनुष्य को सोलह २ आहुति और छः २ माशे घृतादि एक एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है।

(सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास)

यहां यह निश्चय करना है कि कौन सी सोलह आहुतियां हैं जिन्हें कम से कम अवश्य करना ऋषि ने लिखा है।

१-(प० चमूपति जी)

प० चमूपति जी ने १६ आहुतियों की संख्या नीचे लिखे प्रकार जोड़ी है—

४-प्रातःकाल की आहुतियां 'सूर्यो ज्योतिः०' आदि
४-सायंकाल की आहुतियां 'अग्नि ज्योति०' आदि
४-भूरग्नये प्राणाय स्वाहा आदि
१-आपो ज्योती रसोऽमृतम्०
३-'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' तीन बार

१६ संख्या इस प्रकार मानी है

२-(केचिदाहु)

कुछ लोग १६ आहुतियों का समाधान इस प्रकार करते हैं कि—

संस्कार विधि के गृहस्थ प्रकरण में जो यज्ञ पद्धति है उसके अनुसार —

४—आधारावाज्यभागाहुति
४—प्रातःकाल की 'सूर्योज्योति०' आदि
४—'भूरग्नये प्राणाय' आदि
१—'आपो ज्योती०'
३—'या मेधां०' विश्वानि देव०' अग्ने नय०'

१६ आहुतियां इस प्रकार प्रातःकाल करे और सायंकाल को भी इसी प्रकार १६ आहुतियां देवे। केवल प्रातःकाल की आहुतियों के स्थान पर सायंकाल के आहुति मन्त्र 'अग्निर्ज्योतिः०' आदि बोले इस प्रकार १६ प्रातः और १६ सायंकाल अर्थात् प्रतिदिन ३२ आहुतियां एक व्यक्ति करे।

३—(अपरे ब्रुवन्ति)

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने जो पद्धति छापी उसमें लिख दिया कि पञ्चमहायज्ञविधि की पद्धति में गायत्री मन्त्र की आहुतियों द्वारा १६ संख्या की पूर्ति करले। और अपनी उस पद्धति में 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' की तीन आहुतियां भी पञ्चमहायज्ञ विधि के नाम से घुसेड़ दी, और 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा'

आदि आहुतियों में 'इदं न मम' वाले वाक्य भी मिला दिये जोकि संस्कार विधि की पद्धति में ही हैं।

४–(अन्ये त्वाहुः)

कुछ लोग तो पञ्चमहायज्ञ विधि की पद्धति में 'यां मेधां०' 'विश्वानि देव०' 'अग्ने नय०' को मिला देते हैं। ये चारों मत अविचारितरमणीय और असंगत हैं।

(उक्त पक्षों का खंडन)

१—पञ्चमहायज्ञ विधि में एक ही पूर्णाहुति है। तीन नहीं, अतः उसके द्वारा १६ संख्या की पूर्ति ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त हमारा विचार है कि जो व्यक्ति दोनों समय का यज्ञ एक ही समय करे उसको 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि दो बार पढ़ना चाहिये अर्थात् प्रातःकाल की आहुति देकर 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि आहुति देवे। फिर सायंकाल की 'अग्निर्ज्योति०' आदि आहुति देकर 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि की आहुतियां फिर देनी चाहिये, अन्यथा दोनों समय का यज्ञ पूरा कैसे होगा। यज्ञ एक समय कभी आप करलें पर आहुतियों की गणना उतनी ही होनी चाहिये जितनी दोनों समय करने की थी। अर्थात् दोनों समय पृथक् पृथक् यज्ञ करते तो जितनी आहुतियां होतीं। वे आहु-

तियां इस सिद्धान्त के अनुसार दोनों समय की २४ बन जावेंगी १६ नहीं। अर्थात् चार प्रातः की, चार 'भूरग्नये०', एक 'आपो ज्योती०' और तीन पूर्णाहुतियां इस प्रकार एक समय में १२ और दोनों समय की २४ आहुतियां बनेंगी।

२—संस्कार विधि के पञ्चयज्ञ प्रकरण के अनुसार आघारावाज्यभागाहुतियां और 'विश्वानि देव०' आदि जोड़कर १६ संख्या की पूर्ति भी ठीक नहीं क्योंकि १६ आहुतियों के प्रकरण में सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में स्वामी जी ने लिखा है कि कम से कम १६ आहु-तियां अवश्य देनी चाहिये और जो अधिक होम करना चाहे वह 'विश्वानि देव०' और गायत्री मन्त्र से आहुतियां देवे। अर्थात् 'विश्वानि देव०' अधिक पक्ष की आहुति है कम से कम पक्ष की नहीं। और संस्कार विधि की पद्धति में 'विश्वानि देव'० की आहुति है अतः वह पद्धति कम से कम पक्ष की नहीं हो सकती। इसके अनुसार दोनों समय की ३२ आहुतियां बन जाती हैं। हमारे विचार से कम से कम पक्ष में दोनों समय की मिलाकर १६ आहुतियां बननी चाहिये।

(सामान्य पक्ष और अनिवार्य पक्ष)

यहां यह बात भी समझ लेना आवश्यक है कि

सामान्य पक्ष और बात है और कम से कम पक्ष और बात है। जिस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण आदि का श्रद्धा होम आदि सामान्य पक्ष नहीं है। वह तो आपत्काल का पक्ष है इसी प्रकार संस्कार विधि की गृहस्थाश्रम वाली यज्ञ की पद्धति सामान्य यज्ञ की पद्धति हैं पर जो उतना न कर सके वह कम से कम १६ आहुतियां तो अवश्य देवे।

३—सार्वदेशिक सभा का पक्ष भी असंगत ही है क्योंकि गायत्री मन्त्र के द्वारा १६ संख्या की पूर्ति नहीं हो सकती क्योंकि स्वामी जी का लेख है कि जो अधिक होम करना चाहे वह गायत्री मन्त्र से आहुति देवे। ऐसा ही सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है, ऐसा ही पञ्चमहायज्ञ विधि में यज्ञ के अन्त में वर्णन है।

और नाहीं पञ्चमहायज्ञ विधि में 'सर्वं वै०' की तीन आहुतियां हैं और न 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' के अन्त में 'इदं न मम' पञ्चमहायज्ञ विधि में है। यह सब कपोल कल्पनामात्र है। जैसा कि सार्वदेशिक धर्मार्य सभा की घोषणा में वर्णन कर दिया और ऋषि के ग्रन्थ देखे नहीं।

४—चौथा पक्ष मी असत्य है क्योंकि पञ्चमहायज्ञ विधि में 'यां मेधां०' आदि आहुतियां नहीं हैं।

(१६ आहुतियों का सिद्धान्त पक्ष)

यदि उपर्युक्त सब पक्ष असत्य हैं तो सत्य पक्ष क्या है यह भी विचार करना चाहिये। हमारा तो ऐसा विचार है कि प्रातःकाल की चार आहुतियां और सायं-काल की चार आहुतियां तों मन्त्रगत सदा यज्ञ की प्रसिद्ध थी हीं। यह आहुतियां स्वामी जी ने पूर्व पद्ध-तियों से ली हैं अतः इन ८ आहुतियों में तो कोई विवाद नहीं है। सत्यार्थप्रकाश में जहां १६ आहुतियों का कम से कम विधान लिखा है वहां 'भूरग्नये प्राणाय स्वाहा' आदि चार ही आहुतियां बनाकर ऋषि ने लिखी हैं 'आपो ज्योती०' सत्यार्थ प्रकाश में नहीं है। यदि यह कहा जावे कि वहां इत्यादि शब्द लिखा है उस से 'आपो ज्योती०' का ग्रहण हो जायेगा, यह ठीक नहीं क्योंकि केवल एक 'आपो ज्योती०' के लिये इत्यादि शब्द लिखना अच्छा प्रतीत नहीं होता। कई मन्त्रों के लिये इत्यादि शब्द लिखना सम्भव प्रतीत होता है। अतः इत्यादि के दो अभिप्राय हो सकते हैं या तो 'आपो ज्योती०' 'यां मेधां' 'विश्वानि देव०' 'अग्ने नय सुपथा' ये मन्त्र इत्यादि शब्द से लिये जावें सो सम्भव नहीं क्योंकि इस पद्धति में 'यां मेधां' आदि हैं नहीं। या दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि सायंकाल प्रातः-

काल की आहुतियां 'सूर्यो ज्योतिः' आदि प्रसिद्ध ही हैं उनकी ओर इत्यादि शब्द के संकेत किया हो और कोई पद्धति तो सत्यार्थ प्रकाश में लिखी नहीं है जो आगे पीछे की असंगति हो। चार आहुतियां बनाकर लिखदीं जो दोनों समय की हैं और चार चार एक एक समय की प्रसिद्ध हैं ही। इस प्रकार आठ प्रातः और आठ सायं या दोनों समय की एक बार बोलकर १६ आहुति करले, यह निर्दोष पक्ष है। उभयथा वा सावित्र्या गायत्र्याश्च विनियोगः स्यात्। अर्थान्तरार्थं च पूर्णाहुतिः।

(अग्निहोत्र का समय)

अग्निहोत्र किस समय करना चाहिये, यहां इस सम्बन्ध में सब सहमत हैं कि दोनों समय सायं प्रातः अग्निहोत्र का समय है परन्तु प्रातःकाल का अग्निहोत्र सूर्योदय के पश्चात् हो या सूर्योदय से पूर्व हो तथा सायं-काल का अग्निहोत्र सूर्यास्त के पश्चात् हो या सूर्यास्त से पूर्व हो, इस विषय में बहुत मतभेद हैं।

१—ऐतरेय ब्राह्मण ने बड़ा स्पष्ट अपना सिद्धान्त रखा है। दिन रात के २४ घन्टों को दो दिन मान कर बाटा है। जितने काल तक सूर्य उदित रहे वह एक दिन और जितने काल तक सूर्य अस्त रहे वह एक दिन। इस प्रकार २४ घन्टों के दो दिन ऐतरेय ब्राह्मणकार ने

माने। अतः वह कहता है कि दोनों दिन यज्ञ करना चाहिये अर्थात् एक यज्ञ सूर्योदय में हो और दूसरा सूर्यास्त में।

प्रातःकाल का यज्ञ सूर्योदय होने पर हो और सायंकाल का यज्ञ सूर्यास्त होजाने पर हो। इस प्रकार दोनों बारह घन्टों में एक एक यज्ञ हो जायेगा। यदि प्रातः काल का यज्ञ सूर्योदय से पूर्व किया जावे और सायंकाल का सूर्यास्त के पश्चात् किया जावे तो दोनों यज्ञ रात्रि में ही हुये। दिन में कोई यज्ञ नहीं हुआ। इसी प्रकार यदि प्रातःकाल का यज्ञ सूर्योदय के पश्चात् हो और सायंकाल का सूर्यास्त से पहले, तब दोनों यज्ञ दिन में ही होगये रात्रि में कोई यज्ञ नहीं हुआ। अतः प्रातः-काल का अग्निहोत्र सूर्योदय के पश्चात् और सायंकाल का सूर्यास्त के बाद करने से एक यज्ञ दिन में और एक यज्ञ रात में हो जायेगा। २४ घन्टों के दो दिनों में दो दो यज्ञ प्रतिदिन होने से एक वर्ष में ७२० यज्ञ हो जायेंगे अन्यथा केवल सूर्य की उपस्थिति में या केवल सूर्यास्त में दोनों यज्ञ करने से एक वर्ष में ३६० ही यज्ञ होंगे।

२—दूसरा कारण प्रातः सूर्योदय के पश्चात् यज्ञ करने का ऐतरेय ब्राह्मण ने यह भी बताया है कि—

स योऽनुदिते जुहोति यथा कुमाराय वा वत्साय वाऽजाताय स्तनं प्रतिदध्यात् तादृक् तत । अथ य उदिते जुहोति यथा कुमाराय वा वत्साय वा जाताय स्तनं प्रतिदध्यात् तादृक् तत् ।

(ऐतरेय० २५ । ६ ॥)

अर्थात्—सूर्योदय होने पर सूर्य के लिये आहुति देना ठीक है जैसे बच्चे के उत्पन्न होने पर उसके मुख में स्तन दिया जा सकता है । उत्पत्ति से पूर्व बच्चे के मुख में स्तन देना असंगत है । इसी प्रकार सूर्य के विना उदय हुये 'सूर्यो ज्योतिः' मन्त्र बोलकर आहुति देना है ।

३—प्रातःकाल का यज्ञ सूर्योदय के बाद ही करना चाहिये इस सम्बन्ध में तीसरा कारण ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है कि—

प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् । दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् ॥ इति ॥

(ऐतरेय २५ । ३१)

अर्थात्—प्रातः प्रातः असत्य वे बोलते हैं जो सूर्य के उदय से पूर्व 'सूर्यो ज्योति०' मन्त्र बोलकर आहुति देते हैं क्योंकि सूर्य अभी उदय हुआ ही नहीं है।

इत्यादि हेतुओं के कारण ऐतरेय ब्राह्मण ने प्रातः-काल उदित होम की ही प्रशंसा की है। पर सायंकाल सूर्यास्त पर यज्ञ का समय ऐतरेय मानता है।

४—जो लोग प्रातःकाल का यज्ञ सूर्योदय से पूर्व मानते हैं उन अनुदित होमियों की एक विचित्र युक्ति शतपथ ब्राह्मण में लिखी है—

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानीति तस्माद् वै सूर्योऽग्नि-होत्रम्। इत्याहुः ॥ २ ॥

अथ यदस्तमेति तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति ॥ ३ ॥

(शतपथ २।३।२—३)

अर्थात्—सूर्य अग्निहोत्र है। जब सूर्य अस्त होता है तब अग्नि में प्रविष्ट होता है अतः उस काल में सूर्य भूलोक में होता है क्योंकि अग्नि पृथिवीस्थानी है। यह

काल उदय होने से पहले और अस्त होने के पश्चात् हो सकता है। यह अग्निहोत्र का समय है।

५—मनु ने लिखा है—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

(मनु० २। १५)

अर्थात्—सूर्योदय होने पर—सूर्योदय से पहले—और इन दोनों समयों से भिन्न समयाध्युषित काल अर्थात् वह समय जब सूर्य न हो और न नक्षत्र ही, वह भी समय यज्ञ का है।

६ मनु ने दूसरे स्थान पर सब पक्षों का संग्रह इस प्रकार किया है और कुल्लूक भट्ट ने अपनी टीका में विस्तार से समझाया है।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।

(मनु० ४। २५॥)

अर्थात्—यज्ञ के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विकल्प इस प्रकार हैं—

उदितपक्षे

(१) प्रातःकाल का यज्ञ—दिनस्यादौ—सूर्योदय होनेपर

सायंकाल का यज्ञ—निशाया आदौ—सूर्यास्त के पश्चात्

अनुदितपक्षे

(२) सायंकाल का यज्ञ—दिनस्यान्ते—सूर्यास्त से पूर्व
प्रातःकाल का यज्ञ—निशाया अन्ते—सूर्योदय से पूर्व

(यद्वा) उदितपक्षे

(३) प्रातःकाल का यज्ञ—दिनस्यादौ—सूर्योदय होनेपर
सायंकाल का यज्ञ—दिनस्यान्ते—सूर्यास्त से पूर्व

अनुदितपक्षे

(४) सायंकाल का यज्ञ—निशाया आदौ—सूर्यास्त के पश्चात्
प्रातःकाल का यज्ञ—निशाया अन्ते—सूर्यास्त से पूर्व

(महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का पक्ष)

७—ऋषि दयानन्द ने इन सब में से सं० (३) वाले पक्ष को सत्यार्थप्रकाश में लिखा है अर्थात् प्रातः-काल का यज्ञ सूर्य के उदय होने पर और सायंकाल का यज्ञ सूर्यास्त से पूर्व करना चाहिये। जैसा लिखा है कि—

"तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र का समय है।"

(सत्यार्थप्रकाश समु० ३ शताब्दी संस्करण पृष्ठ १२४)

८—पञ्चमहायज्ञविधि में यज्ञ के समय के सम्बन्ध में लिखा है कि—

एवं प्रातः सायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमे-तैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽग्रे यावदिच्छा तावद् गायत्री-मन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात् ।

(पञ्चमहायज्ञ विधि शताब्दी संस्करण पृष्ठ ८७१)

यहां ऋषि दयानन्द ने प्रातः और सायं दोनों ही समय सन्ध्योपासन के अनन्तर यज्ञ का समय लिखा है। इस लेख के अनुसार सायंकाल का यज्ञ यदि सन्ध्या के पश्चात् किया जायेगा तो सूर्यास्त के पश्चात् नक्षत्रोदय होने पर हो सकेगा क्योंकि सायंकाल की सन्ध्या का समय 'यावदृक्षविभावनात्' के सिद्धान्तानुसार नक्षत्र दर्शन तक सायं सन्ध्या का ही समय है उसके बाद यज्ञ का समय मानना होगा। ऐसा मानने पर स्वामी दयानन्द के मत में प्रातःकाल के यज्ञ का समय तो सूर्योदय होने पर रहेगा और सायंकाल के यज्ञ के दो समय विकल्प से मानने पड़ेंगे। सत्यार्थप्रकाश के अनुसार सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व और पञ्चमहायज्ञ-विधि के अनुसार सूर्यास्त के पश्चात्। आदिम सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ ४१ पर भी इसी प्रकार का लेख है कि—

"सन्ध्योपासन के पीछे नित्य दो बार अग्निहोत्र सब करें। जैसा ऐतरेय ब्राह्मण में भी लिखा है। 'अस्तमिते सायं जुहोति" (आदिम सत्यार्थप्रकाश पृ० ४१)

अथवा पञ्चमहायज्ञविधि के 'अनन्तर' शब्द को अव्यवहित परक मानकर विकल्प न मानें। अस्तु "तस्मादुदिते होतव्यम्" इत्यादि अनेक प्रमाण प्रातः काल सूर्योदय होने पर यज्ञ करने के हैं। सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र के प्रमाण नीचे लिखे जानो—.

क—मनुस्मृति ४। २५ के अनुसार सं० (३) का दिनस्यादौ दिनान्ते वाला पक्ष। जैसा ऊपर विस्तार से लिखा है।

ख—गार्हपत्यादाहवनीयस्योद्धरणमनस्तमितानुदितयो०

(*कात्यायन श्रौतसूत्र ४। १३*)

ग—अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात् आहवनीयमुद्धरति यथा श्रेयस्यागमिष्यत्यावसथेनोपक्लृप्तेनोपासीत ॥

(*शतपथ २। ३। ८*)

घ—सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु।

(*यजु० ३। १०*)

इत्यादि प्रमाण सायंकाल सूर्यास्त से पूर्व यज्ञ करने के हैं।

(कालकारणमीमांसा)

कौन क्या मानता है यह हम लिख चुके अब उनके कारण पर विचार करते हैं।

(१) सूर्य की उपस्थिति में कहा जासकता है—'सूर्यो ज्योतिः' अतः सूर्योदय होने पर प्रातःकाल का यज्ञ हो।

(२) अग्नि की उपस्थिति में कहा जा सकता है—'अग्निर्ज्योति' अतः सूर्यास्त के पश्चात् सायंकाल का यज्ञ हो।

(३) जब तक सूर्य उदय नहीं होता तब तक अग्नि में प्रविष्ट होकर इस लोक में सूर्य रहता है अतः सूर्योदय से पूर्व इस लोक में कहना ठीक है—'सूर्यो ज्योतिः' अतः प्रातः का यज्ञ सूर्य के उदय होने से पहले हो।

(४) किसी के आने से पूर्व ही उसके सत्कार का प्रबन्ध किया जाता है अतः सायंकाल अग्नि की ज्योति आने से पूर्व ही सायंकाल का यज्ञ हो। अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व सायंकाल का यज्ञ हो।

(ऋषि दयानन्द का विचार)

ऋषिवर स्वामी दयानन्द जी समझते हैं कि वास्तव

में सूर्य अग्निहोत्र है जैसा ऊपर शतपथ में भी बताया है और मनु० में भी लिखा है कि—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(मनु० ३।७६)

अर्थात्—अग्नि में डाली हुई आहुति सूर्य को पहुंचती है उससे वृष्टि आदि का क्रम चलता है। सुसमिद्ध अग्नि में तीव्र तपे घृत की आहुति यदि डाली जावेगी तब वह ठीक सूर्य तक द्युलोक में पहुंचती है अन्यथा वह आहुति पृथिवी या अन्तरिक्ष तक ही रह जाती है। (देखो पृष्ठ १३६) अतः सूर्य की उपस्थिति में ही दोनों यज्ञ होने चाहिये। अर्थात् प्रातः का यज्ञ सूर्योदय होने पर और सायंकाल का यज्ञ सूर्यास्त से पूर्व हो।

सूर्य और अग्नि शब्द के प्रयोग का अन्य भी कारण है। जिसके लिये प्रातःकाल के यज्ञ में—'सूर्यो-ज्योतिः' कहा जाता है और सायंकाल के यज्ञ में—'अग्निर्ज्योतिः' बोलते हैं।

(यज्ञाहुति मन्त्रो में सूर्य और अग्नि)

सूर्य के अन्दर प्रकाश और तेज जिस क्रम से

पृथिवी लोक में रहता है इसी प्रकार अग्नि में ज्योति और वर्चः जिस रूप में हैं यह सब उन मन्त्रों की व्याख्या में लिखा जाचुका है अतः २४ घन्टों की वस्तु-स्थिति मन्त्रों द्वारा पाठ करनी है। इसके अतिरिक्त जैसा ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि—

'सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो तन्द्रयते चरन्'

(ऐतरेय० ७ । १५ ॥)

प्रातःकाल हमारे सामने सूर्य आदर्श है कि सारे दिन श्रम करो, आलसी न बनो और सायंकाल अग्नि आदर्श है कि अब भी नितान्त शान्त न हो जाओ। इत्यादि कई कारण सूर्य और अग्नि शब्द के प्रयोग के हैं।

(पद्धतियों में भेद और कुछ ज्ञातव्य बातें)

सन्ध्या और अग्निहोत्र का वर्णन ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, पञ्चमहायज्ञविधि, संस्कारविधि आदि कई ग्रन्थों में है। जो इन सब ग्रन्थों में आपाततः विरोध प्रतीत होता है उन सब पर विचार करने से वैसा होने का कारण स्पष्ट ज्ञात होजाता है। इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न और उत्तर नीचे लिखता हूँ।

प्रश्न (१) पञ्चमहायज्ञविधि आदि में केवल सायं प्रातःकाल की आहुतियां लिखी है पर संस्कारविधि में अग्न्याधान आदि सब कुछ है ये दो प्रकार की यज्ञ की पद्धतियां क्यों ?

उत्तर—इस का उत्तर इस ग्रन्थ के आरम्भ में जनक याज्ञवल्क्य का प्रकरण लिखकर दे दिया है। (देखो पृष्ठ २१–२७)

प्रश्न (२) संस्कारविधि लिखित सन्ध्या में गायत्री मन्त्र से पूर्व आचमन मन्त्र से आचमन करना लिखा है परन्तु पञ्चमहायज्ञविधि में गायत्री से पूर्व 'शन्नो देवी०' मन्त्र से आचमन करना नहीं लिखा यह पद्धति में भेद क्यों ।

उत्तर–गायत्री मन्त्र से पूर्व आचमन करने की आवश्यकता उस समय होती है जब पर्याप्त काल तक गायत्री का जप करना हो। अग्निहोत्र के समान सन्ध्या का भी अनिवार्य पक्ष ही पञ्चमहायज्ञविधि में है। परिस्थिति भेद से विशेष बातें नित्यकर्म में होना अनुचित नहीं। जैसे स्वामी जी ने पिछले पञ्चमहायज्ञ विधान में लिखा था कि 'यदि सूर्योदय में बिलम्ब हो तो अघमर्षण

के पश्चात् अर्थ विचार पुरः सर गायत्री का जप करे' इसी प्रकार अन्यमत भेद समझो ।

प्रश्न (३) संस्कारविधि की सन्ध्या में तो उपस्थान में एक मन्त्र अधिक है । 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्' यह मन्त्र पञ्चमहायज्ञविधि में नहीं है ।

उत्तर–पञ्चमहाज्ञयविधि में 'यत्र लोकांश्च कोषांश्चापो ब्रह्मजना विदुः०' यह मन्त्र पढ़ा है परन्तु यह मन्त्र सन्ध्या मन्त्र नहीं है प्रत्युत अप् शब्द के सम्बन्ध में प्रमाणरूप यह मन्त्र उद्धृत है इसी प्रकार संस्कारविधि में लिखा है कि—

'इन मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन में चारों ओर बाहर और भीतर परमात्मा को पूर्ण जानकर निर्भय निश्शङ्क उत्साही आनन्दित पुरुषार्थी रहना । तत्पश्चात् परमात्मा का उपस्थान अर्थात् परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अति निकट परमात्मा है ऐसी बुद्धि करके करे'

(संस्कारविधि सन्ध्या प्रकरण)

इतना लिखने के पश्चात् इसी बात को एक वेद मन्त्र 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्०' लिख कर दर्शाया है । यह

मन्त्र सन्ध्या पाठ का अङ्ग नहीं है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति 'यत्र लोकांश्च कोशांश्च' मन्त्र को भी सन्ध्या पाठ में मानले वैसा ही 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्०' मन्त्र को सन्ध्या पाठ में मानना है। यह मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६६ सूक्त में है। और एक ही मन्त्र का यह सूक्त है। इस मन्त्र का भाष्य करते हुए भावार्थ में ऋषि ने लिखा है कि—

परमेश्वरोपासक एव मनुष्य शत्रुपराभवं कृत्वा परमानन्दं प्राप्तुं शक्नोति किं सामर्थ्यमन्यस्य।

(ऋ० १। ६६। १। भावार्थ)

इसी दृष्टिकोण से 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्' मन्त्र पर संख्या १ है और उसके अगले मन्त्रों पर फिर से संख्याक्रम १, २, ३, ४ उपस्थान के चारों मन्त्रों पर मुद्रित हैं। अन्यथा 'जातवेदसे सुनवाम' से संख्या प्रारम्भ होकर अन्तिम मन्त्र तक सं० ५ मुद्रित होती। इस संस्कार विधि के पहले ही संस्करण से यह संख्या इसी प्रकार मुद्रित चली आती है यह नहीं कि किसी ने बीच में परिवर्तन कर दिया हो।

संस्कारविधि के हस्तलेखों में से रफ़ कापी में किसी मन्त्र पर कोई संख्या नहीं है।

प्रेस कापी में संख्या किसी पर है किसी पर नहीं। पर इस संस्कार विधि के पहले संस्करण से ही ऐसी ही संख्या पड़ी चली आरही है। संस्कार विधि के यहां तक के पृष्ठ ऋषि के सामने नहीं छप पाये थे इसका कोई प्रमाण नहीं है।

प्रश्न (४) संस्कार विधि में लिखा है कि—

(शन्नो देवी०) इस मन्त्र से तीन आचमन करके अग्निहोत्र का प्रारम्भ करे)

इस लेख से प्रतीत होता है कि जिस प्रकार सन्ध्या में (शन्नो देवी०) मन्त्र से आचमन किया जाता है उसी प्रकार यज्ञ में भी (शन्नो देवी०) मन्त्र से आचमन करे।

उत्तर—यह विचार ठीक नहीं क्योंकि (नमः-शम्भवाय च) मन्त्र के पश्चात् जो (शन्नो देवी०) मन्त्र से आचमन लिखा है यह सन्ध्या का समाप्त्यङ्ग है यज्ञपद्धति का आरम्भाङ्ग नहीं है। क्योंकि अग्निहोत्र का आरम्भ तो उस आचमन के उत्तर कालीन है। वह आचमन अग्निहोत्र का अङ्ग कैसे बन जायेगा। इसके अतिरिक्त 'इति संक्षेपतः सन्ध्योपासनविधिः समाप्तः' लिखकर सन्ध्या का प्रकरण समाप्त किया गया उसके

बाद फिर 'अथाग्निहोत्रम्' कहकर अग्निहोत्र का प्रकरण आरम्भ किया। वहां (शन्नो देवी०) से आचमन नहीं लिखा। अतः जो लोग यज्ञ में (शन्नो देवी०) से आचमन करते हैं उन्होंने आपाततः पद्धति को देखा है।

प्रश्न (५) संस्कारविधि लिखित यज्ञ की पद्धति में अग्न्याधान से यज्ञ का आरम्भ लिखा है। प्रायः लोग नित्य यज्ञ में (विश्वानि देव०) आदि प्रार्थना के आठ मन्त्रों को यज्ञारम्भ में बोलते हैं यह ठीक है या नहीं ?

उत्तर—पञ्चमहायज्ञविधि की पद्धति में 'आपो-ज्योती०' मन्त्र के पश्चात् पूर्णाहुति है। (यां मेधां०) (विश्वानि देव०) (अग्ने नय सुपथा०) ये तीन मन्त्र (आपो ज्योती०) की आहुति के पश्चात् संस्कारविधि में विशेष हैं जो पञ्चमहायज्ञविधि में नहीं हैं। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों है ? हमने इसको इस प्रकार समझा है कि—

आपः, ज्योतिः, रसः, अमृतम्=ब्रह्म।

भूः, भुवः, स्वः, ओम्। स्वाहा।

अर्थात्–व्यापक, ज्योतिः स्वरूप, आनन्दमय, और अमर ब्रह्म का तथा भू भुवः स्वः अर्थात् तीनों लोकों का ज्ञान इस पद्धति में है। तीनों लोकों से सम्बन्ध

रखने वाली बातें यज्ञ की पद्धति में हैं वे हम भूल न जावें इस बात की भगवान् से प्रार्थना के लिये (यां मेधाम्०) मन्त्र पद्धति के अन्त में है परन्तु उसके भी आगे अर्थात् यज्ञ की पद्धति को समाप्त करते हुये प्रार्थना के आठ मन्त्रों में से एक मन्त्र आदि का और एक मन्त्र अन्त का बोलकर जो आहुति दिलाई है वह यह प्रकट करती है कि आरम्भ में आठ मन्त्र बोलकर प्रार्थना करके अध्यात्मप्रवाह बहाया गया है। उस प्रकरण को सृष्टि विज्ञान की अपेक्षा वैशिष्ट्य देने के लिये (यां मेधाम्०) के भी पश्चात् एक प्रार्थना का आदि मन्त्र और एक अन्तिम मन्त्र स्मरणार्थ यज्ञ-पद्धति में है। यह प्रार्थनामन्त्रपाठ का ज्ञापक है।

प्रश्न (६) प्रार्थना के आठ मन्त्रों को बोलने के पश्चात् (अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा) आदि से आचमन और (वाङ् म आस्येऽस्तु) आदि से अङ्गस्पर्श नित्य यज्ञ में करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर–विचार्यमेतत्। क्योंकि ऋषि का स्पष्ट लेख इतना ही है कि–

(संस्कार विधि)

जैसे सायं प्रातः दोनों सन्धि वेलाओं में सन्ध्योपासन करें इसी प्रकार दोनों स्त्री॰ पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।

पृष्ठ २०—२१ में लिखे प्रमाणे अग्न्याधान, समिधादान, और पृष्ठ २२ में लिखे—

"ओम् अदितेऽनुमन्यस्व"

इत्यादि ४ मन्त्रों से यथाविधि कुण्ड के चारों ओर जल प्रोक्षण करके, शुद्ध किये हुये सुगन्ध्यादियुक्त घी को तपा के पात्र में लेके कुण्ड से पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठ के पृष्ठ २२—२३ में लिखे आघारावाज्यभागाहुति चार देके नीचे लिखे हुये मन्त्रों से प्रातःकाल अग्निहोत्र करे—

ओं सूर्यो ज्योति ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। इत्यादि

(संस्कारविधि गृहाश्रमप्रकरण)

नित्य यज्ञ की पद्धति के सम्बन्ध में ऋषि का लेख इतना ही है। इसमें न प्रार्थना के आठ मन्त्र हैं, न आचमन, न अङ्गस्पर्श और न पञ्चाहुतियां ही हैं। हमने यज्ञपद्धति मीमांसा में निम्नलिखितों पर विचार किया है--

---

॰किसी विशेष कारण से स्त्री व पुरुष अग्निहोत्र के समय दोनों साथ उपस्थित न हो सकें तो एक ही स्त्री व पुरुष दोनों की ओर का कृत्य कर लेवे। अर्थात् एक २ मन्त्र को दो २ बार पढ़के दो २ आहुति करे। (संस्कार विधि टिप्पणी)

१.	प्रार्थना के	—८ मन्त्र
२.	आचमन	—३ मन्त्र
३.	अङ्गस्पर्श	—७ मन्त्र
४.	अग्नि ग्रहण	—१ मन्त्र
५.	अग्न्याधान	—१ मन्त्र
६.	अग्नि समिन्धन	—१ मन्त्र
७.	समिदाधान	—४ मन्त्र
८.	पञ्चाहुति	—१ मन्त्र
९.	जल प्रोक्षण	—४ मन्त्र
१०.	आधारावाज्यभागाहुति	—४ मन्त्र
११.	प्रातः अथवा सायंकाल आहुति	—४-४ मन्त्र
१२.	उभयकाल आहुति—भूर्भुवःस्वरग्नि० तक	—४ मन्त्र
१३.	संकलन मन्त्र—आपो ज्योती०	—१ मन्त्र
१४.	मेधा प्रार्थनाहुति	—१ मन्त्र
१५.	प्रार्थना प्रकरण	—२ मन्त्र
१६.	पूर्णाहुति तीन	—१ मन्त्र
		५१

इन ५१ मन्त्र या मन्त्र खण्डों पर विचार किया है। इनमें से सं० १, २, ३, ६,८ का कृत्य गृहस्थ प्रकरणोक्त नित्ययज्ञ में स्पष्टोक्त नहीं है।

प्रत्येक नित्य कर्म में आचमन और अङ्गस्पर्श अनुक्त भी अनिवार्योक्त समझकर तथा जलप्रोक्षण से पूर्व पञ्चाहुति सम्बद्ध समझकर प्रचलित प्रतीत होती हैं तथापि सं० १ के समान इनका अनुसन्धान कर्तव्य है या ज्ञापक अन्वेषणीय है।

(ऋषि के विरोध के नये नये ढंग)

ऐसे व्यक्ति थोड़े हैं जो यह साहस कर सकें और सीधा कहदें कि यह स्वामी जी की भूल है। जो लोग इतना साहस नहीं कर सकते वे प्रेस की अशुद्धियां कहकर परिवर्तन कराना चाहते हैं या ऋषि के हस्त-लेखों का ढोंग रचते हैं, या स्वामी जी के वाक्यों का अन्यथा अर्थ करते हैं। अथवा यह कहकर अपना मत आर्य समाज में चलाना चाहते हैं कि यद्यपि लिखा ऐसा ही है पर स्वामी जी की स्प्रिट यही थी। कुछ कहते हैं धर्मार्यसभा निर्णय करदे और संगठन के अनुकूल ही सबको रहना चाहिये और कहना चाहिये। अतः ये सिद्धान्तकंटक कई शैली के हैं। कुछ स्पष्टकंटक, कुछ प्रेसकंटक, कुछ व्याख्याकंटक, कुछ स्प्रिटकंटक, कुछ संगठनकंटक हैं। कुछ हस्तलेख कंटक हैं।

बन्धुओ! पूर्वपक्ष करने वाले संसार में हमारे सामने बहुत हैं हमारा उत्तरपक्ष है। हम भी पूर्वपक्षी

बन जावेंगे तब अगली सन्तानें सब बहक जावेंगी। वे हमको उदाहरण बनावेंगी। अन्त में मैं सब आर्य बन्धुओं से प्रार्थना करूंगा कि सन्ध्या हवन के सम्बन्ध में केवल संस्कारविधि और पञ्चमहायज्ञविधि ग्रन्थ को देखें अन्य बाज़ारू पुस्तकों से सन्ध्या हवन न सीखें। लोगों ने अपनी मनगढ़न्त बातें बहुत मिलाई हैं और पद्धतियों में सबने कुछ छोड़ा है कुछ बदला है। एक भी विश्वास योग्य सन्ध्या हवन पद्धति अन्य नहीं है। व्याख्या के लिये चाहे कोई ग्रन्थ पढ़ें। मैं तो यह भी कहूंगा कि मेरे इस ग्रन्थ को भी व्याख्या के लिये ही पढ़ें, पद्धति का स्वरूप स्वामी जी के ग्रन्थों में देखें। इसीलिये मैंने पद्धति का अंश ऋषि के ग्रन्थों से जैसा का तैसा उद्धृत कर दिया है पद्धति स्वयं नहीं लिखी। अन्त में मैं उन सब आर्य विद्वानों को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने यज्ञ सम्बन्धी बहुत सी बातों का समाधान किया है जिनके कारण मैं आगे विचार करने में समर्थ हुआ।

जो यज्ञ के सम्बन्ध में कई ग्रन्थ लिखे गये हैं उन सब की बातों का संग्रह करके ग्रन्थ बढ़ाना इष्ट नहीं है। उन्हीं ग्रन्थों को देखकर वे सब बातें जान लेनी चाहिये। पद्धति के संकलन प्रकार पर किसी ने विचार

नहीं किया था उस पर विस्तृत विचार यहां किया गया है जो विचार विद्वन्मण्डली के आगे भी नवीन ही होंगे। अतः उस पर आगे विद्वद्वृन्द विचार करें कि यह प्रकार सन्तोषप्रद है या नहीं। हमने खेंचातानी को और कल्पना को अणुमात्र भी अवसर नहीं दिया है। ऐसा कार्य तो अज्ञ लोगों को ही प्रिय होता है। हमने जो लिखा है अपने पूर्ण सन्तोष से लिखा है।

सन्ध्या की पद्धति में भी अन्य जो मतभेद संस्कार विधि और पञ्चमहायज्ञविधि में है वह भी विचार सन्ध्या के ग्रन्थ में किया जायगा। मनुष्य अपनी अज्ञता से ऋषियों के ग्रन्थों में सन्देह करता है। पर ऋषियों के लेख परस्पर विरोध रहित सब सुसंगत हैं। अर्ध दग्ध लोग शीघ्रता से भूल प्रकट करने में दग्ध होते हैं। हमारा विश्वास स्वामी जी के सम्बन्ध में वही है जो भाष्यकार पतञ्जलि का पाणिनि के सम्बन्ध में था—

"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" जिसको इस पर विश्वास न हो उनसे यही कहना है कि–

'इह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्'

ओं नमो ब्रह्मणे । नमः पूर्व ऋषिभ्यः । नमो महर्षये दयानन्दाय । नम ऋषिभक्तेभ्य आर्यविद्वद्भ्यः । नमो गुरुचरणेभ्यः ।

त्वोतारामसुधीसुतो धनवतीगर्भाच्च जातो बुधः,
शास्त्रज्ञः शिवदत्तदाधिमथतो ह्याचार्यविश्वश्रवाः ।
साङ्गोपाङ्गश्रुतौ च यः कृतमतिर्भाषासु बह्वीषु च,
मीमांसाऽध्वरपद्धतेरभिनवा तस्यास्तु सत्प्रीतये ॥१॥

स्वतन्त्रे भारते देशे प्रजातन्त्रे विभाजिते ।
प्रदेशे चोत्तरे पुण्ये बरेलीपत्तने शुभे ॥२॥

स्वरबिन्दुखयुग्मेऽब्देऽधिमासे वैक्रमे शुचौ ।
शुक्रे पक्षे सितेऽष्टम्यां ग्रन्थः पूर्तिमगादयम् ॥३॥

इति

श्री १०८ महर्षि दयानन्दसरस्वतीसंकलितायाम्,
आचार्य विश्वश्रवसा व्याख्यातायाम्,
यज्ञपद्धतौ चतुर्थं प्रकरणं
समाप्तम् ।

यज्ञपद्धतिमीमांसा च समाप्ता

* शमित्योम् *

वैदिक साहित्यमण्डल के नियम

१—प्रतिष्ठित संरक्षक—१०००) देने वाले व्यक्तियों के जीवन वृतान्त और चित्र किसी ग्रन्थ में प्रकाशित किये जावेंगे और सब ग्रन्थ बिना मूल्य मिलेंगे।

२—संरक्षक—५००) देने वाले व्यक्तियों के चित्र किसी ग्रन्थ में प्रकाशित होंगे और ५००) तक के ग्रन्थ बिना मूल्य शेष-अर्ध मूल्य पर मिलेंगे

३—प्रतिष्ठित सहायक—१००) देने वाले व्यक्तियों के नाम किसी ग्रन्थ में प्रकाशित किये जावेंगे। १००) तक के प्रकाशन बिना मूल्य शेष आधे मूल्य पर मिलेंगे।

४—सहायक—५०) देने वाले व्यक्तियों के भी नाम प्रकाशित किये जावेंगे। ५०) तक के ग्रन्थ बिना मूल्य शेष पौने मूल्य पर मिलेंगे।

५—भागग्रहीता—१०) देने वाले व्यक्तियों को १०) तक के ग्रन्थ बिना मूल्य शेष पौने मूल्य पर मिलेंगे।